विश्वशांति

क्या सम्भव है ?

कैथलिन लांसडेल

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

विश्व शांति

क्या सम्भव है ?

लेखिका

कैथलिन लांसडेल

अनुवादक

श्यामाप्रसाद प्रदीप

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

प्रकाशक :

मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,

राजघाट, काशी

पहली बार : ५,०००

मार्च, १९६०

मूल्य : सवा रुपया

मुद्रक :

बलदेवदास,

संसार प्रेस, काशीपुरा, वाराणसी

प्रकाशकीय

विज्ञान दुधारी तलवार है। वह मानव-जाति का अकूत हित-साधन भी कर सकता है और एटम बम जैसे भयानक अस्त्रों द्वारा दो-चार क्षणों के भीतर ही मानव-जाति के बहुत बड़े अंश का सफाया भी कर सकता है। आज विश्व में विज्ञान अपने विकास की चरम सीमा पर जा रहा है और उसके विकास के साथ-साथ मानवता बुरी तरह संत्रस्त होती जा रही है।

विनोबा के कथनानुसार जब तक इस विज्ञान का आत्मज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जायगा, तब तक विश्व-शान्ति की समस्या का निराकरण हो नहीं सकता। प्रेम, सद्भाव और करुणा की पावन त्रिवेणी के द्वारा ही शान्ति के लिए आकुल विश्व को तृप्ति प्रदान की जा सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक की सत्तावन वर्षीया लेखिका श्रीमती कैथलिन लांसडेल एक ख्यातिनामा वैज्ञानिक और शान्तिवादिनी हैं। आपने वैज्ञानिक दृष्टि से शान्ति की समस्या पर विचार किया है। वे नहीं चाहतीं कि विज्ञान का दुरुपयोग किया जाय। उन्होंने शान्ति, स्वतन्त्रता और न्याय की समस्याओं पर विचार करते हुए शस्त्रीकरण की ओर तेजी से दौड़नेवाले राष्ट्रों से अनुरोध किया है कि वे विज्ञान के नाम को लज्जित न करें और विज्ञान का उपयोग मानव-जाति के कल्याण के लिए करें।

हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक हम सबको विश्व-शान्ति की दिशा में बढ़ने में सहायता प्रदान करेगी। लेखिका ने इसका अनुवाद प्रकाशित करने के लिए हमें सहर्ष अनुमति प्रदान की, इसके लिए हम विशेष आभारी हैं।

●

भूमिका

हिरोशिमा पर पहला परमाणु बम गिराये जाने की खबर जब ब्रिटेन के पत्रों में छपी, तो मेरी एक मित्र अभिनेत्री, जो कोई शान्तिवादी नहीं थी, विक्षुब्धावस्था में मेरे पास आयी और उसने कहा : "देख नहीं रही हो कि आज तुम वैज्ञानिकों ने क्या कर डाला है ?" यह पुस्तक उसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास है और इस ढंग से लिखी गयी है, जैसे मैं पाठक से बात कर रही हूँ। यह ढंग अपनाने का कारण यह है कि वैज्ञानिक जानकारी के इस प्रकार दुरुपयोग किये जाने के लिए मैं खुद को भी अपराधी और उत्तरदायी समझती हूँ। पुस्तक में यह बताने का भी प्रयास किया गया है कि हम वैज्ञानिकों तथा अपनी भावी पीढ़ी के लिए सुखमय संसार की आकांक्षा रखनेवालों को क्या करना चाहिए।

लिखने की प्रेरणा देने के लिए मैं सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स (क्वेकर) की शान्ति-समिति के सदस्यों की आभारी हूँ। उन क्वेकरों (शान्तिवादियों) और क्वेकरों के मित्र-क्वेकरों की भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मौखिक रूप से सुझाव दिये या समालोचना की, जिसका कि मैंने भरपूर उपयोग किया।

—कैथलिन लांसडेल

पहला अध्याय

मैं सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स की सदस्या हूँ, जिन्हें प्रायः क्वेकर कहा जाता है। मैं पक्की शान्तिवादी हूँ, किन्तु मैं देखती हूँ कि दूसरे लोगों को पक्का शान्तिवादी बना पाना बड़ा कठिन है।

क्वेकर कैसे शान्तिवादी हैं, इसकी अभिव्यक्ति १६४० में चार्ल्स द्वितीय के समक्ष प्रस्तुत घोषणापत्र में हुई है, जिसमें कहा गया है :

> "हम सभी प्रकार के युद्ध तथा कलह और किसी भी उद्देश्य या बहाने को आधार बनाकर संघर्ष करने के विरुद्ध हैं, सारे संसार के समक्ष हमारी यह प्रतिज्ञा है। ईसा की जो आत्मा हमारा पथ-प्रदर्शन करती है, वह बदलनेवाली नहीं है, वह ऐसी नहीं है कि एक बार हमें बुराई से दूर रहने का आदेश देकर फिर बुराई की ओर ले जाय। हम निस्सन्देह रूप से जानते और विश्व के समक्ष निष्ठा के साथ घोषणा करते हैं कि सत्य की ओर ले जानेवाली ईसा की आत्मा कभी भी इह-लोक या परलोक के प्रभुत्व के लिए किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध हमें अस्त्र-युद्ध की ओर न ले जायगी।"

इस घोषणा का प्रायः आदर किया जाता है, लेकिन आमतौर पर देखा यह जाता है कि इसे जब युद्ध के दोषों के उपचार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो लोगों को झुँझलाहट होती है। यही हाल इस कथन का है कि 'यदि लोग लड़ने से इनकार कर दें, तो लड़ाइयों का होना बन्द हो जाय।' बेशक इस कथन में सत्य है, युद्धमुक्त विश्व के निर्माण में व्यक्तिगत शान्ति-वादिता पर विचार प्रकट करते समय मैंने स्वयं यह बात कही है; किन्तु उतोपिया पर आधृत स्वतःसिद्ध वचन थोथे तर्कमात्र ही हैं।

ईसा की आत्मा के पथ-प्रदर्शन के या अपनी विवेक-शक्ति से अथवा दोनों से जो भी स्त्री या पुरुष इस बात को समझता है कि युद्ध अभौतिक दृष्टि से पतनकारी है, वर्गों और राष्ट्रों का झगड़ा सुलझाने का गलत तरीका है, आक्रमण या उत्पीड़न का सामना करने का अनुचित मार्ग है, राष्ट्रीय एवं व्यक्तिगत आदर्शों की रक्षा का अनुपयुक्त ढंग है, उस स्त्री या पुरुष को निश्चय ही युद्ध में किसी प्रकार का भाग न लेना चाहिए और वस्तुतः युद्ध का सक्रिय रूप से विरोध करना चाहिए। अधिकांश सभ्य राष्ट्र अब अनुभव करने लगे हैं कि युद्ध में व्यक्तिगत रूप से भाग लेने के विरुद्ध विशुद्ध आन्तरिक आपत्ति जैसी कोई चीज है, भले ही वे राष्ट्र तरुणों को इस ढंग से सोचने या ऐसा रुख अपनाने के लिए प्रोत्साहित करने को वांछनीय नहीं समझते।

विचित्र बात यह है कि मानववादी और नास्तिक लोग भी ऐसा सोचते हैं कि यदि सच्चा विवेक शुद्ध है, तो उसे धर्म के अर्थ में व्यक्त किया जाना चाहिए। एक किशोर यदि यह समझता है कि युद्ध में किसी प्रकार का भाग लेना गलत है और अपनी इस असहमति को यह तर्क देकर उचित सिद्ध करता है कि युद्ध विवेक के विरुद्ध है, तो बिल्कुल गलत ढंग से 'अपनी आत्मा के अनुसार' आपत्तिकर्ता कहकर उसका तिरस्कार किया जाता है। फिर भी मानववाद और कम्युनिज्म दोनों इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि लोग अपने सहयोगी जनों के प्रति सक्रिय दयालुता बरतें। परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार करने से इनकार किया जाता है, तो भी मानव-जाति के कल्याण को, कम-से-कम जाति को बचाये रखने की दृष्टि से ही, वांछनीय समझा जाता है। मैं नहीं जानती कि यह अन्तर्चेतना का प्रकटन है या स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा विवेक का, फिर भी यह मुझे बहुत कुछ अन्तर्चेतना के विवेकीकरण जैसा लगता है।

अधिकांश लोग किसी भी बात में पक्का विश्वास नहीं रखते। उन्हें

इस बात तक का यकीन नहीं होता कि हम परमात्मा की इच्छा जानते हैं या दूसरा कोई जानता है। वे यह भी नहीं जानते कि युद्ध करना गलत है और न यही समझते हैं कि क्या युद्ध के द्वारा असह्य स्थिति बदली जा सकती है, भारी पैमाने के सामुदायिक अपराध रोके जा सकते हैं, बहुत अधिक अधिकार हस्तगत करने के पहले ही खतरनाक तानाशाह से छुटकारा मिल सकता है, अन्तर्राष्ट्रीय धोखाधड़ी का सामना या सशस्त्र हमले का निवारण किया जा सकता है। विवेक की दृष्टि से वे यह तर्क देते हैं कि यद्यपि युद्ध से बचने के लिए हर सम्भव रास्ते की खोज की जानी चाहिए, फिर भी जब तक मानव पूर्णता नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक अवश्य कुछ लोग ऐसे रहेंगे, जो अपने हिस्से से अधिक हड़पना चाहेंगे। वे इस बात का कोई कारण नहीं समझते कि जब सीमित सैनिक शक्ति के प्रयोग से युद्ध रोका जा सकता है, तब युद्ध क्यों होने दिया जाय। उनका पक्का विश्वास है कि बहुत मामलों में युद्ध इस ज्ञान के कारण नहीं होता कि उसे रोकने के लिए शक्ति विद्यमान है। मनुष्यों को पूर्णता नहीं प्राप्त हुई है, लेकिन वे ऐसे मूर्ख भी नहीं हैं, जो यह जानते हुए भी कि हमारा सामना होगा और हम दण्डित होंगे, राष्ट्रीय पैमाने पर चोरियाँ या हत्याएँ करें।

सेलविन लायड कहते हैं : "नियम का शासन होना चाहिए। हम युद्ध-पिपासु नहीं हैं—न ब्रिटिश सरकार युद्ध चाहती है और न ब्रिटिश जनता ही युद्ध की इच्छुक है। ब्रिटेन सारा प्रयास विफल हो जाने पर ही युद्ध का आश्रय लेता है।"* इसका क्या मतलब है, यह हम मध्यपूर्व में देख चुके हैं। किसी भी स्थिति में युद्ध सबसे बाद का साधन है, तो सैनिक संगठन रहना ही चाहिए और इस संगठन की क्या सीमा हो, यह इस राजनीतिक अनुमान पर निर्भर करता है कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय (या आंतरिक) समस्याओं का सामना करना है, उनके लिए कितनी सैनिक शक्ति चाहिए।

---

* १४ अगस्त १९५६ ई० को बी० बी० सी० से प्रसारित भाषण।

राष्ट्र का शान्तिवादी होना व्यक्ति के शान्तिवादी होने से बिल्कुल भिन्न है। यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक अधिकांश लोगों को यह विश्वास न हो जाय कि राष्ट्र का शान्तिवादी होना न केवल ठीक है, अपितु सैनिक संघटन का त्याग कर देना व्यावहारिक भी है। यह कहना कि 'जो ठीक है, वह व्यवहार्य होना चाहिए', पहले से ही ऐसे दर्शन या धर्म की कल्पना करना है, जो बहुसंख्यक जनता अथवा राजनीतिक निर्णय करने के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों को मान्य नहीं हो सकता। राजनीतिज्ञों को यह सोचना होता है कि उनके कार्यों का क्या सम्भावित परिणाम होगा। लेकिन वे हमेशा इस बात की परवाह नहीं करते। वे प्रायः ऐसा काम करते हैं, जो सोच-विचारकर किये हुए काम नहीं लगते। लेकिन राजनीतिज्ञ भी अच्छे और बुरे दोनों होते हैं। हमें अपना विचार अच्छे राजनीतिज्ञों तक ही सीमित रखना है। सभी सम्भव कदमों पर विचार किया जाय, तो मानना पड़ेगा कि वे यदि स्थितिविशेष में व्यवहार्य कार्रवाइयों में सर्वोत्तम कार्रवाई को 'सही' मानते हैं, तो उन्हें दोषी नहीं कहा जा सकता।

वे सामान्यतः इस बात को बुरा नहीं मानते कि उनके आसपास कुछ ऐसे आदर्शवादी रहें, जो मूलभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते रहें। वे उनके प्रति बहुत सहनशील रहते हैं। वे समय-समय पर इस तरह के लोगों से मुलाकात करते हैं और कभी कभी उनके कथनों के उपयोगी अंश को ग्रहण कर लेते हैं। समाज के लिए यह बहुत बुरा होगा कि जो लोग हमेशा विरोधरूपी अस्त्र की धार तेज करते रहते हैं, केवल वे ही राजनीतिज्ञों पर दबाव डालनेवाले हों। जैसा कि एक प्रमुख राजनीतिज्ञ (ब्रिटिश नहीं) ने मुझसे एक बार कहा था : "शान्तिवाद व्यवहार्य राजनीति नहीं है। किन्तु अभौतिक दृष्टि से स्वस्थ होने के लिए किसी भी राष्ट्र में आदर्शवादी मत बरछी की नोक की तरह कायम रहना चाहिए।" मेरा विश्वास है कि उसने जो बात कही, उसमें उसे विश्वास था। लेकिन प्रायः ऐसा होता है कि किसी भी समस्या के हल की योजना प्रस्तुत करने से बचने के लिए आदर्शवादी

ऐसा सोच लेता है कि उसे वास्तविक राजनीति के अर्थ में एकदम चिन्तन नहीं करना है।

निश्चय ही अनेक व्यक्ति, जो शान्तिवादी नहीं हैं, ऐसा सोचते हैं कि उनका राजनीतिक दृष्टिकोण रखना या उसके लिए जोर देना बेकार है। उनकी राजनीति अवसरविशेष के लिए ही सीमित रहती है, जब वे बैलेट पेपर पर निशान लगाते हैं। हमारे देश में जनमत-संग्रह नहीं होता, इसलिए राजनीतिक प्रश्नों पर अपना निजी मत प्रकट करने के लिए जनता की बाध्यता नहीं होती। अक्सर ऐसा जरूर प्रतीत होता है कि जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण जैसी अप्रिय नीतियाँ इच्छा के विरुद्ध परेशान, किन्तु मौन ब्रिटिश जनता पर लादी जा रही हैं, जो आश्चर्य से सोचती है कि हमने दो बार विश्व-युद्ध किसलिए किया था ?

ऐसे अनेक लोग हैं, जो सोचते हैं कि यह बात ऐसी ही नहीं है, बल्कि इसे ऐसा होना चाहिए। मुझसे विश्वविद्यालय के छात्रों ने गम्भीरतापूर्वक कहा है (और यही मत उनसे सीनियर लोगों का भी है) कि एक बार चुन लेने के बाद साधारण जनता को सारे राजनीतिक निर्णय संसद् के सदस्यों पर छोड़ देना चाहिए और स्वयं राजनीतिक प्रश्नों की चिन्ता न करनी चाहिए। यह सब साधारण जनता का काम नहीं है।

जो शान्तिवादी यह कहता है कि मुझे केवल सिद्धान्तों से मतलब है, राजनीति करना हमारा काम नहीं है, वह गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप अपने ऊपर आनेवाली जिम्मेदारी और कर्तव्य से भागता है। उसकी इस स्थिति का औचित्य तभी हो सकता है, जब वह राजनीतिज्ञों से यह आशा या आकांक्षा न रखे कि वे शान्तिवादी सिद्धान्तों को व्यवहार रूप में परिणत करेंगे। यदि वह उनसे इसकी आशा तो नहीं रखता, फिर भी शान्ति की आकांक्षा रखता है, तो उस पर यह जिम्मेदारी है कि वह विश्व की परिस्थिति का अध्ययन करे और स्वयं सोचे कि यह काम कैसे किया जा सकता है।

तर्क के लिए यह पक्ष बहुत अच्छी तरह उपस्थित किया जा सकता है

कि ईसाई मात्र को अपने एवं अपने पड़ोसी के अभौतिक कल्याण तथा अपने व्यवहार पर ध्यान देना और विश्व की राजनीति के प्रभाव से बचना चाहिए। इस रूप में ईसाइयों को समाज के भीतर अपना आदर्श समाज बनाना चाहिए, उनका यह समाज, समाज के भीतर रहे; लेकिन उससे लिप्त न हो।

अधिकांश क्वेकर ऐसा नहीं सोचेंगे, क्योंकि उनका विश्वास है कि धर्म जीवन का अंग है और हमारे जीवन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। विलियम पेन ने कहा है : "सच्चा देवगुण व्यक्तियों को संसार से विरक्त नहीं करता, अपितु संसार में अच्छे रूप में रहने के योग्य बनाता है और उन्हें संसार का सुधार करने के लिए उत्प्रेरित करता है।" हो सकता है कि ईसाइयों का समाज एक-दूसरे के प्रति प्रेम प्रदर्शित करके यह दिखाये कि विश्व का बृहत्तर समाज कैसा बन सकता है, लेकिन अब संसार छोटा हो गया है, यह कहना कि हम अपनी ही सरकार के गृह तथा परराष्ट्र नीतियों के लिए जिम्मेदार नहीं हैं, वस्तुतः यह कहने जैसा है कि 'क्या मैं अपने भाई का रक्षक हूँ ?'

इसका यह भी मतलब नहीं है कि सामान्यतः राजनीतिज्ञों का कोई सिद्धान्त नहीं होता और न वे सिद्धान्तों को सुनना ही चाहते हैं। उनके भी सिद्धान्त होते हैं, किन्तु उन पर जिम्मेदारी का बहुत बड़ा बोझ भी होता है। हमें ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि जैसे वे लोग ईसाई-सिद्धान्तों को अव्यवहार्य या परस्परविरोधी पाते हैं, लेकिन हममें से कौन इसका निर्णय करने की सामर्थ्य रखता है ? क्या हम स्वयं पाप-कर्म नहीं करते ? फिर भी अनेक लोगों को उस समय इस बात से बहुत धक्का लगा, जब अपनी निष्ठा एवं न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध और सभी लोगों द्वारा सम्मानित तत्कालीन ब्रिटिश वित्तमंत्री सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने स्वर्णमान (गोल्ड स्टैण्डर्ड) से विमुख न होने की दृढ़ घोषणा करने के एक सप्ताह बाद ही सितम्बर १९४९ में पौण्ड के अवमूल्यन की घोषणा की। अपने आलोचकों

को उन्होंने यह उत्तर दिया कि मैंने यदि इसका संकेत पहले से किया होता या वक्तव्य देने से इनकार करता, तो स्टाक एक्सचेंज में अन्धाधुन्ध सट्टे-बाजी हुई होती।

यह बात सच भी थी। इससे यह तथ्य नहीं बदलता कि अनेक व्यक्तियों के लिए राजनीति में सत्य मजाक बन गया है। कोई राष्ट्रनायक वक्तव्य देकर किसी अफवाह को झूठ बताये, तो उससे यह अर्थ लगा लिया जाता है कि अफवाह में कुछ सत्य है। कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो सोच-विचार करने-वाले लोगों के बीच बैठकर रेडियो सुनता है, वह जानता है कि यह धारणा कितनी गहराई तक जड़ जमा चुकी है। करीब-करीब इतनी ही दुःखद यह बात भी है कि अनेक लोग रेडियो पर जो कुछ सुनते और समाचार-पत्रों में जो कुछ पढ़ते हैं, उसे और अधिक विचार किये बिना सच मान लेते हैं।

इसके साथ ही दूसरी बात भी है: सामान्य नागरिक के लिए यह सम्भव नहीं है कि उसे प्रत्येक राजनीतिक समस्या के विस्तृत इतिहास की जानकारी हो, वह स्थानिकता की भावना से मुक्त रहे और कानूनी स्थिति तथा किसी कार्रवाई विशेष के सम्भावित परिणाम एवं प्रतिक्रिया को समझ सके। उसे पत्रों में जो पढ़ने को मिलता है, वह उसी पर निर्भर रहता है। ऐसे सम्पादक बहुत ही कम होंगे, जो किसी भी तात्कालिक प्रश्न पर बुद्धि-मत्तापूर्वक या धारावाहिक रूप से लिख सकें, फिर चाहे वह प्रश्न स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का हो या लैटिन अमेरिका की सबसे ताजी क्रान्ति का, चाहे हंगरी में विद्रोह या बर्मा की सीमावर्ती अशान्ति का हो, चाहे पारमाणविक एवं उद्जन परीक्षणों के फलस्वरूप होनेवाले धूलि-पात के परिणामसम्बन्धी अनुसन्धान का। सैकड़ों में से कोई एक नागरिक ऐसा मिलेगा, जो इनमें से किसी एक विषय की समुचित जानकारी रखता हो; यदि उसे किसी एक विषय की समुचित जानकारी है भी, तो दूसरे सभी विषयों से वह अनभिज्ञ रहता है। अत्यधिक निष्पक्ष व्यक्ति एक दक्षिणपंथी पत्र पढ़ेगा और एक

वामपंथी पत्र और उसके बाद दोनों पत्रों के मतों का सन्तुलन करके उन पत्रों में प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर अपनी राय निश्चित करेगा।

प्रश्न हमेशा किये जा सकें, यह तो सम्भव है; लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि उनका उत्तर हमेशा मिले ही। जब कोई राजनीतिज्ञ कहता है कि किसी दूसरी सरकार का अमुक कार्य 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन' है, तो वह राजनीतिज्ञ उस कानून का कभी भी उद्धरण नहीं देता, जिसके अनुसार दूसरे राष्ट्र का कार्य नियमोल्लंघन है। यह भाषण का अच्छा मसाला होता है और यदि उसे कोई उत्तर नहीं देता, तो कभी-कभी उसके इस कथन का रंग भी जम जाता है। उसका उत्तर अन्तर्राष्ट्रीय कानून में दक्ष कोई वकील शायद 'टाइम्स' में सम्पादक के नाम पत्र में दे सकता है। उस पत्र के छपते ही दूसरे पत्र आने लगते हैं और उनमें प्रस्तुत तर्कों और तथ्यों को पढ़कर बड़ा आनन्द आता है। इस पर बहुत से अंग्रेज समझते हैं कि हम ब्रिटेनवासी विश्व-नीतिनिष्ठा के संरक्षक हैं।

फिर भी दुःख की बात यह है कि जो राजनीतिज्ञ क्रोध में आ जाता है और आपत्तिजनक आक्षेप करता है, उसकी बात सारा संसार सुनता है: और चूँकि अपनी 'सम्भावित गलती' पर हिसाब लगानेवाले वैज्ञानिक की तरह तो राजनीतिज्ञों को (कम्युनिस्ट देशों के बाहर के राजनीतिज्ञों को, जिनकी नीयत पर हम सन्देह कर सकते हैं) अपनी गलती स्वीकार नहीं करनी पड़ती, इसलिए वे आक्षेप करते रहते हैं। जो आदमी आपकी सहायता करता है, किन्तु यह प्रदर्शित करता है कि उसे आपसे घृणा है या आपको वह तुच्छ समझता है, उसे क्षमा करने की अपेक्षा आप उस आदमी को बहुत आसानी से क्षमा कर दे सकते हैं और एक प्रकार से उसकी सराहना भी कर सकते हैं, जो आपको धोखा तो देता है, लेकिन यह कार्य शिष्टता के साथ करता है। समझदार एशियाई और अफ्रीकी जिस बात से क्षुब्ध होते हैं, वह यह नहीं है कि हमने उनका अहित करके अपने को सम्पन्न किया है: वे प्रायः खुलकर यह स्वीकार करेंगे कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने

उन्हें किस प्रकार लाभान्वित किया, वे जिस बात से घृणा करते हैं, वह यह है कि हमने उन्हें अपने से 'छोटी जाति' का समझा और उसी दृष्टि से उनके साथ व्यवहार किया। हमारा ऐसा दृष्टिकोण एशियाइयों और अफ्रीकियों के प्रति ही नहीं है, बल्कि किसी भी ऐसे व्यक्ति के प्रति होता है, जो ब्रिटिश नहीं है।

हम अपने में नैतिक उच्चता की जो भावना रखते हैं, उसका एक प्रभाव यह होता है कि हम अपने नैतिकता-सम्बन्धी निर्णयों से सहमत न होने-वालों को कम बुद्धिमान मान बैठते हैं। जब ब्रिटिश नागरिक और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ का यह हाल है, तो मिशन की भावना रखनेवाले स्त्री या पुरुष का क्या कहना, उनमें तो यह धारणा और भी प्रबल होती है। इसीलिए सुधारक बननेवाले व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम अभ्यास शायद यही होगा कि वह जिस विश्व और जिस जनता का सुधार करने की आवश्यकता समझता है, उनकी स्थिति को समझने का बौद्धिक प्रयास करे।

इस पुस्तिका के शेष खण्डों में इसी बात का प्रयास किया गया है। यह आधुनिक विज्ञान, आधुनिक राजनीति, आधुनिक व्यक्ति और भावी समस्याओं की पृष्ठभूमि में तीन सौ वर्ष पुरानी क्वेकर शान्ति-घोषणा को देखने तथा सम्भव हो, तो इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न है कि "मान लिया, यह सब बिल्कुल ठीक है। विश्व-युद्ध आत्म-हत्यावत् है और छोटी लड़ाइयाँ बढ़कर बड़ी लड़ाइयों का रूप ले सकती हैं। कोई भी व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता और प्रत्येक व्यक्ति अपना ही रास्ता पसन्द करता है। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय।"

● ● ●

दूसरा अध्याय

एक विषय, जिसके बारे में मैं कुछ जानती हूँ, वह विज्ञान है। मैं उसीके सम्बन्ध में विचार करना चाहती हूँ। विज्ञान मित्र है या पिशाच? ४० वर्ष पूर्व जब हमने स्कूल में विज्ञान का अध्ययन आरम्भ किया था, उस समय गैस थी, लेकिन हमारे मकानों में बिजली नहीं थी। मेरे भाई साहब दक्षिण पश्चिम आयरलैण्ड के एक सबसे पहले स्थापित रेडियो स्टेशन में काम करते थे, लेकिन घर में रेडियो का होना उस समय भविष्य की बात थी। टेलीविजन बहुत बड़ा और दूर का सपना था। मैं उस वर्ष में पैदा हुई थी, जिस वर्ष राइट बन्धुओं ने हवा से अधिक वजनी यान बनाया और पहली बार सफलतापूर्वक आकाश में उड़ान ली। ६ वर्ष बाद ब्लेरियो (Bleriot) ने विमान से इंग्लिश चैनल के आर-पार उड़ान ली। किन्तु १६१६ में लन्दन के उपकण्ठ में स्थित हमारे क्षेत्र में जो बम गिरे, वे विमान से नहीं गिराये गये थे; बल्कि घातक गैस से भरे हुए भारी-भरकम 'जेप्लिन' से छोड़े गये थे। कभी-कभी हमने स्वयं देखा कि तोप के गोले से ध्वस्त होकर जलते हुए ये जेप्लिन किस प्रकार धराशायी हो रहे हैं। मेरी माँ यह दृश्य देखकर चिल्ला उठती थीं, क्योंकि वे समझती थीं कि कुछ जर्मन चालक १६ वर्ष के लड़के थे। मैं जो विज्ञान पढ़ रही थी, उससे इन सब चीजों का बहुत कम सम्बन्ध था, लेकिन इन सब बातों का मेरी इस बढ़ती हुई भावना पर प्रभाव पड़ा कि युद्ध बहुत गलत रास्ता है।

जिस विद्यालय में सर हम्फ्रे डेवी, माइकेल फैराडे, जान टिण्डल, सर जेम्स डेवर और अन्य विश्व-विख्यात वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान-कार्य किया था, उस विद्यालय में जब मैं सर विलियम ब्रैग की देखरेख में गवेषणा

करनेवाली छात्रा हुई, तो लड़ाई खतम हो चुकी थी और, जैसा कि हम सोच रहे थे, हमारी विजय हो चुकी थी। हम सच्चे हृदय से ऐसे शान्ति-समझौते की कामना करते थे, जिससे भविष्य के लिए युद्ध का अन्त हो जाय। युद्ध में बहुत भीषण काण्ड हुए थे, लेकिन हमें विश्वास था कि अनेक जर्मन सज्जन हैं और अब बड़ी जिम्मेदारियाँ उनके कन्धों पर आयेंगी। रूस में बहुत भीषण काण्ड हुए थे और शायद उस समय भी हो रहे थे, लेकिन अमेरिका और फ्रांस जैसे दूसरे देशों में भी भयानक क्रान्तियाँ हुईं और ठण्डी पड़ गयीं। मेरा काम खिलवाड़ बन गया था और मैं बराबर अनुसन्धानशाला की जमीन नापा करती थी। बाद में मैं अपनी गणित क्रिया साथ लेकर नर्सिंग होम में पहुँची, जहाँ मेरे बच्चों का जन्म हुआ। नये तथ्यों की जानकारी बड़ी कुतूहलवर्धक थी।

अब ऐसा लगता है कि विज्ञान भस्मासुर बन गया है। इसके क्षेत्र गोपनीय बन चुके हैं, जो अभद्र प्रतीत होता है। युद्धकाल में और उसके कुछ वर्ष बाद तक गोपनीयता वस्तुतः एक बीमारी बन गयी थी। यदि किसी आविष्कार का कोई व्यावहारिक मूल्य है, तो उसे गुप्त रखना जरूरी है। यदि वह आविष्कार अच्छा है, कल्याणकर है, तो उसे शत्रुओं या प्रतियोगियों को नहीं बताया जाना चाहिए। यदि वह आविष्कार बुरा है, विनाश करनेवाला है, तो विरोधी या प्रतियोगी उसकी नकल न करने पायें या उसका प्रभाव नष्ट करनेवाली कोई चीज आविष्कृत न करने पायें। इस शत्रुता और प्रतियोगिता का परिणाम क्या होगा?

किसी भी प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार निश्चित रूप से शक्ति हैं और साथ ही एक जिम्मेदारी भी हैं। यदि किसी कच्चे माल का नया उपयोग खोज निकाला जाता है, तो वह माल किसी एक या कुछ राष्ट्रों के एकाधिकार की वस्तु बन जाता है। वे राष्ट्र एक दिन में धनवान् बन सकते हैं या अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राष्ट्रों के शिकार हो सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद इस विचार ने मेरे मस्तिष्क में गहरी जड़ जमा ली। मैं

भाषण करने के लिए पेरिस गयी थी। मेरे पतिदेव ने एक विज्ञान-कांग्रेस में भाग लेने के लिए ब्रूसेल्स की यात्रा की। खाद्यान्न तथा दूसरी उपभोग्य वस्तुओं का फ्रांस में उस काल में भी बहुत अभाव था। लेकिन बेलजियम में ऐसी स्थिति नहीं थी। इसका क्या कारण था ? युद्ध में दोनों देशों ने मुसीबत झेली थी। लेकिन बेलजियम के पास बेचने के लिए यूरेनियम थी, जो बेलजियन कांगो की खानों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो रही थी और फ्रांस दूध तथा दूध से तैयार चीजें बाहर भेजता था। बेलजियम की यूरेनियम अमेरिका जाती थी, जिससे डालर की प्राप्ति होती थी। कुछ यूरेनियम ब्रिटेन के हाथ भी बेची जाती थी।

अब प्रश्न था कि रूस को यूरेनियम कहाँ से मिले ? बेशक उसके पास कुछ यूरेनियम थी और अधिक यूरेनियम की प्राप्ति के लिए वह खोज कर रहा था। कुछ यूरेनियम पोलैण्ड में भी थी। इसके साथ ही चेकोस्लोवाकिया की खानों में यूरेनियम का प्राचुर्य था। परमाणु अस्त्रों के निर्माण और अणुशक्ति से विद्युत्-उत्पादन में बराबरी पर प्रतियोगिता करने के लिए जरूरी था कि रूस चेकोस्लोवाकिया को पश्चिमी प्रभाव में न जाने दे। चेकोस्लोवाकिया में भी अल्पसंख्यक गुट के रूप में कम्युनिस्ट शक्ति-शाली थे और उनमें इतनी शक्ति थी कि वे रूस की सहायता से किसी भी समय सत्ता छीन लें। चेकोस्लोवाकिया के १९४८ के जिस बलात् सत्तापहरण ने पश्चिम को हिला दिया और पूर्व-पश्चिम के सम्बन्धों को इतना विषाक्त बना डाला, वह हिरोशिमा और नागासाकी पर प्रथम दो परमाणु बमों के छोड़े जाने का ही अवश्यम्भावी परिणाम था। उसकी सम्भावनाएँ विद्यमान थीं। बुद्धिमान् राजनीतिज्ञों को उससे शायद ही आश्चर्य हुआ होगा।

निस्सन्देह चेकोस्लोवाकिया की यह घटना खेदजनक थी। यद्यपि इधर आकर स्थिति में सुधार हुआ है, तथापि प्राग की यात्रा करनेवाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वहाँ के लोग प्रसन्न और सुखी हैं। लेकिन मैं नहीं समझती कि 'शक्ति के बल से शान्ति' और 'शक्ति के साथ

वार्ता' की नीति में विश्वास करनेवाला ब्रिटेन जैसा राष्ट्र, जो उपनिवेशों पर जनमत के विरुद्ध रहने के बावजूद इसलिए कब्जा किये हुए है कि उनमें महत्वपूर्ण कच्चे माल हैं, यह आशा कैसे करता था कि रूस का व्यवहार कुछ और होगा। रूसी हमसे ज्यादा अच्छे नहीं हैं। और वे अच्छे हों भी क्यों ? वे भी 'शक्ति के साथ वार्ता' में विश्वास करते हैं।

पिछले पचास वर्षों में वैज्ञानिक विकास की जो गति रही है, उससे यातायात तथा संचार-साधनों में क्रान्ति हो गयी है। कारखानों और घरों का यंत्रीकरण हो गया है और भयानक विनाश करनेवाले युद्धास्त्रों का निर्माण होने लगा है। इसके बाद दो परिणतियाँ अवश्यम्भावी हैं। पहली यह कि अगले पचास या एक सौ वर्षों में निश्चित रूप से असाधारण प्रगति होगी। दूसरी यह कि कुछ देश, जो आज प्राविधिक दृष्टि से अर्द्धोन्नत हैं, निश्चित रूप से पश्चिमी राष्ट्रों की बराबरी करने लगेंगे, जैसा कि रूस इस समय कर रहा है।

किसी भी राष्ट्र की भौतिक सम्पन्नता और सैनिक बल उस राष्ट्र को प्राप्त कच्चे मालों और वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विकास पर निर्भर करता है। जिन देशों में आज भी इने-गिने वैज्ञानिक, यंत्रविद् और प्राविधिज्ञ हैं और सड़कें, रेलवे तथा बिजली-घर नहीं बने हैं, वे अर्धविकसित हैं, भले ही उनका पुराना इतिहास बहुत गौरवशाली और संस्कृति बहुत ऊँची ही क्यों न रही हो। प्राविधिक दृष्टि से वे विकसित हो सकें, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके पास क्या ऐसा कच्चा माल है, जिसे दूसरे राष्ट्रों के हाथ बेचकर वे राजस्व प्राप्त करें या फिर इस बात पर निर्भर है कि धनी राष्ट्र उन्हें सहायता दें अथवा उनके पास ऐसे साधन हों, जिनसे वे अपने देश के लोगों या विदेशियों को विनियोजन के लिए आकृष्ट कर सकें। समय भले ही लगे, किन्तु कोई कारण नहीं है कि वे विशेषज्ञों की सहायता से वैज्ञानिक क्यों न तैयार कर लेंगे। जापान ने यही किया था। चीन काफी संख्या में वैज्ञानिक और प्राविधिज्ञ तैयार कर रहा है, जिनमें से अनेक दूसरों को

शिक्षा देने के कार्य में लगाये जा रहे हैं। इराक तैल राजस्व के कई लाख रुपये सड़कों के निर्माण में लगाने की योजना बना रहा है। असवान बाँध के निर्माण के लिए जो पूँजी चाहिए, उसे विदेशों से प्राप्त करने में मिस्र असफल रहा है, हालाँकि प्राविधिक विकास एवं सिंचाई व्यवस्था और साथ ही साथ सुशासन के बिना मिस्री जनता का सामान्य जीवन-स्तर तक पहुँचना असम्भव है।

प्राविधिक विकास न होने का अर्थ सामान्यतः यह है कि उस देश के अधिकांश निवासी निर्धनता का जीवन बिताते हैं। यदि मौसम अच्छा रहे तथा भूमि उर्वर हो, जैसा कि स्याम में है, और फलस्वरूप वस्त्र, छाया तथा झोपड़ी का बहुत महत्त्व न रहे, खाना-पीना आसानी से मिल जाय, तो उस स्थिति में कम आवश्यकता रहने पर जीवन अधिक कठिन नहीं हो सकता। लेकिन चीन जैसे देशों में, जहाँ बहुत ठण्डक पड़ती है, बहुत गर्मी या नमी रहती है, जहाँ कभी बाढ़ आती है, कभी सूखा पड़ता है और कृषियोग्य भूमि के अनुपात में जनसंख्या बहुत अधिक है, अधिकांश लोगों को ऐसी खराब स्थिति में रहना पड़ता है कि बिना आँखों से देखे उस स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में यह बिल्कुल निश्चित है कि प्रति व्यक्ति पीछे विद्युत् और यांत्रिक शक्ति का उपयोग बढ़ाया जायगा। इसके अलावा अब एशिया निवासी साइकिल, रेडियो, रेफ्रिजरेटर और अच्छी ड्रेनेज प्रणाली भी चाहने लगे हैं।

विश्व की जनसंख्या की दो प्रतिशत आबादी का देश ब्रिटेन विश्व की शक्ति के १० प्रतिशत का उपयोग कर रहा है।

विश्व की जनसंख्या की १७ प्रतिशत से अधिक आबादी का देश भारत विश्व की शक्ति के केवल डेढ़ प्रतिशत का उपयोग कर रहा है।

इन दोनों देशों में रहन-सहन के स्तर में अन्तर का यही मुख्य कारण है।

चीन में नदी और तालाब से खेत में पानी पहुँचाने के लिए पुरुषों, स्त्रियों

और बच्चों के समूह आज भी एक प्रकार की ढेकुली चलाते दिखाई पड़ते हैं। एक-एक एकड़ भूमि सींचने के लिए उन्हें घण्टों कठिन श्रम करना पड़ता है। इसमें शक नहीं कि जिन सामूहिक फार्मों के पास यांत्रिक पम्प हैं, वे इससे कम श्रम से अधिक उत्पादन कर सकते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अतीत में मिस्र के पिरामिड, भारत का ताजमहल, पेकिंग का वैकुंठ मन्दिर और ग्रीक तथा रोमन कला के अद्भुत भवन जैसी विश्व की आश्चर्यजनक कृतियाँ ऐसे व्यक्तियों के श्रम से बनी थीं, जो या तो दास थे या जो दासों से कोई ज्यादा अच्छी हालत में नहीं थे।

विद्युत् शक्ति कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसकी सप्लाई कहीं ज्यादा, कहीं कम ही होती रहे, लेकिन ईंधन का ठीक से वितरण नहीं होता और उपयोग से उसकी समाप्ति हो जाती है। ब्रिटेन इस बात में भाग्यशाली रहा है कि उसकी भूमि में प्रचुर मात्रा में कोयला और लोहा है, किन्तु उसका कोयला समाप्त होता जा रहा है। अब जैसी पट्टियों में कोयला निकालने का काम हो रहा है, उनमें अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई है। उद्योग के राष्ट्रीयकरण का एक कारण यह भी था कि अपनी अनिवार्यता के बावजूद वह लाभ नहीं दे रहा था। सर्वोत्तम कोयला निकाला जा चुका है। सरकार को आगे आनेवाले सैकड़ों वर्षों की दृष्टि से सोचना होता है। जिस दर से कोयला खर्च हो रहा है, उस दर से देखा जाय, तो भी हमारा कोयला-भण्डार अगले दो सौ वर्षों से अधिक न चलेगा, जब कि स्थिति यह है कि विश्व के बाजार में प्रतियोगिता करने और अपने जीवन-स्तर को भी बनाये रखने के लिए ब्रिटेन में कोयले का उपयोग आज की तुलना में बढ़ाना जरूरी होगा।

इसके अलावा जो दूसरे साधन हैं, उनमें एक है सूर्य। सूर्य की धूप से शक्ति पैदा की जा सकती है और जिन देशों में अधिक धूप होती है, वहाँ इस शक्ति का शायद संचय भी किया जा सकता है। लेकिन ब्रिटेन में यह नहीं हो सकता। यांत्रिक और विद्युत् शक्ति के भूखे देशों की दृष्टि से यह

बहुत वांछनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशन और सहायता से अनुसन्धान करके सौरशक्ति के उपयोग की व्यावहारिक सम्भावनाएँ खोज निकाली जायँ।

इसके बाद शक्ति का एक और साधन है हवा। हम हवा से चलनेवाली चक्कियाँ सैकड़ों वर्षों से देख रहे हैं, लेकिन इस प्रकार जो शक्ति पैदा की जाती है, वह आधुनिक आवश्यकताओं की दृष्टि से बहुत थोड़ी है। किन्तु फिर भी इस शक्ति के उपयोग विषयक अनुसन्धान में सहायता और प्रोत्साहन दिये जाने की आवश्यकता है। समुद्र में आनेवाला ज्वार भी शक्ति का साधन हो सकता है। ब्रिटेन को यह साधन उपलब्ध है, किन्तु (जैसा कि स्वर्गीय सर फ्रांसिस साइमन का मत था) ज्वार से शक्ति प्राप्त करने में कोयले से प्राप्त होनेवाली शक्ति की तुलना में अधिक-से-अधिक दो प्रतिशत की ही बचत होगी और इसके लिए करीब २० करोड़ पौण्ड व्यय करना पड़ेगा। हम चाहें तो एक करोड़ पौण्ड से कम की लागत में ही, खुली जाली का अन्त करके और बन्द भट्ठी के द्वारा, २० प्रतिशत तक बचत कर सकते हैं। लेकिन इससे भी हमारी समस्या का हल न होगा।

ब्रिटेन में जल-संग्रहालय के लिए पहाड़ी ढालुआँ क्षेत्र नहीं हैं, जिससे हमारी आवश्यकता के लिए पर्याप्त जल-विद्युत् उपलब्ध हो सके। यदि पूँजी उपलब्ध हो, तो प्राविधिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में इस प्रकार की विशाल योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं। डॉक्टर हान्स थरिंग द्वारा सुझायी गयी ऐसी ही एक योजना के द्वारा पूर्वी तिब्बत में साँपो (ब्रह्मपुत्र) नदी से प्रतिवर्ष ३ खरब ३३ अरब किलोवाट बिजली प्रति घण्टा प्राप्त की जा सकती है।

कोयले की आवश्यकता पूरी करने के लिए हम ब्रिटेन में अधिकांशतः अरब देशों से तेल का आयात करते हैं। कोयला और तेल हमारी यांत्रिक तथा विद्युत् शक्ति के लिए ही आवश्यक नहीं हैं, बल्कि रासायनिक तथा धातु-उद्योग की साधन-सामग्री के रूप में भी उनकी आवश्यकता है और

इसके लिए उनका भण्डार रहना चाहिए। किन्तु आयात की जानेवाली वस्तुओं के विषय में निश्चिन्त नहीं रहा जा सकता।

पूरे यूरोप में कोयले की खपत १९७५ में एक अरब टन होगी। हम धीरे-धीरे कोयले की कमी की पूर्ति, और जब कोयला समाप्त हो जाय, तो उसका स्थान लेने के लिए, पारमाणविक ईंधन से उत्पादित शक्ति का उपयोग करने की योजना बना रहे हैं। हम परमाणु-शक्ति-केन्द्र निर्मित और चालू कर रहे हैं। यह विचारपूर्ण निर्णय है, जिसमें जनता का काफी धन लगेगा। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि परमाणु से शक्ति-उत्पादन की व्यवस्था स्थायी बनकर आयी है। यह व्यवस्था अपने साथ विकराल समस्याएँ भी लायी है, जो ऐसी समस्याएँ हैं, जिन्हें वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ दोनों जानते हैं। खतरों को कम करके दिखाया जा सकता है और कम करके दिखाया जा रहा है, फिर भी ये खतरे विद्यमान हैं। ये खतरे क्या हैं, हम इस पर भी विचार करें।

सबसे पहले वैज्ञानिक खतरे में हैं। कतिपय भारी तत्त्वों की न्यष्टि (nuclei) का तोड़ा जाना ही न्यैष्टिक विघटन (nuclear fission) है, जिसके साथ ताप, प्रकाश और प्रेसर तरंगों के रूप में प्रधान तथा गौण शक्ति निकलती है। इसके अलावा उच्च शक्ति के विकिरण के विशेष प्रकार भारी मात्रा में पैदा होते हैं, और इनमें एक-दूसरे से तेजी के साथ फेंके गये प्रत्येक विघटित अणु के दो या तीन न्यूट्रन (विद्यत रहित कण) और विघटित न्यष्टि के अत्यधिक किरण-सक्रिय (radio-active) टुकड़े अर्थात् विघटन-तत्त्व होते हैं। फेंका गये न्यष्टि आगे फेंकने का काम करते हैं, जिससे इसी प्रकार विघटन-प्रक्रिया जारी रहती है। यह श्रृङ्खलाबद्ध प्रक्रिया या तो न्यैष्टिक राशि की तरह नियंत्रित की जा सकती है या परमाणु बम की तरह विनाशकारी हो सकती है।

शक्ति-उत्पादन के लिए प्रयुक्त न्यष्टि-राशि के संयोगवश नियंत्रण से बाहर हो जाने से जो खतरा है, वह वस्तुतः बहुत मामूली है और उस

खतरे से भी कम है, जो कोयले की खान में आग लग जाने से होता है। फिर भी दोनों खतरे तो हैं ही। कोयले की खान में काम करनेवाले जब दुर्घटना में मरते हैं, तो उसे बड़ा दुःखद माना जाता है; किन्तु जनसंकुल क्षेत्र में किसी बड़े न्यैष्टिक रिऐक्टर के पदार्थ की वाष्प में परिणति इससे कहीं अधिक भीषण होगी। यदि यह क्षेत्र जनसंकुल न हो, तो भी अनेक व्यक्ति मरेंगे और काफी बड़े क्षेत्र में इसका दोषपूर्ण प्रभाव पड़ेगा, जिससे खेती में होनेवाली चीजें भयानक रूप से दूषित होंगी।

इसके बाद उद्योगों में परमाणु शक्ति का उपयोग होने पर बेकार होनेवाले पदार्थों की किरण-सक्रियता से निस्तार का प्रश्न भी है।

न्यैष्टिक शक्ति-केन्द्र में उष्णता उत्पन्न करनेवाले इञ्जन से प्राप्त होनेवाली उपयोगी विद्युत् या यांत्रिक शक्ति का स्रोत उष्णता है। उच्च शक्तीय विकिरण के रूप में जो अतिरिक्त उपलब्धि होती है, उसका किसी प्रकार उपयोग या निस्तार होना चाहिए। कुछ कण नये विघटनीय पदार्थ तैयार करने में लग सकते हैं, कुछ का उपयोग आइसोटोप और कुछ का उपयोग विभिन्न प्रकार के अनुसन्धानों में किरण-सक्रिय तत्त्व तथा सभी प्रकार की उपयोगी औषधियों एवं औद्योगिक कार्यों में किया जा सकता है। किन्तु एक पौण्ड यूरेनियम आधे टन रेडियम की तुलना में कहीं अधिक किरण-सक्रियता पैदा कर देती है; और चार औंस रेडियम प्रतिवर्ष कई हजार रोगियों की चिकित्सा के लिए पर्याप्त है।

अच्छी चीज का बहुत अधिक होना परेशानी का कारण बन जाता है। न्यैष्टिक शक्ति-उत्पादन में बच जानेवाले तत्त्वों से जो चीजें तैयार होती हैं, उनका निर्यात किया जा सकता है और जिन देशों के पास परमाणु शक्ति नहीं है, वे उनका लाभदायक उद्देश्यों के लिए उपयोग कर सकते हैं। नया विघटनीय पदार्थ शक्ति-केन्द्र के ईंधन के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। दुर्भाग्य की बात यह है कि परमाणु अस्त्रों के निर्माण के लिए इसका

संग्रह भी किया जा सकता है, किन्तु इतना सब होने पर भी बहुत अधिक परिमाण में ऐसा खतरनाक पदार्थ रद्दी रह जाता है, जिससे मुक्ति पाना जरूरी है। यदि ब्रिटेन में सारी बिजली यूरेनियम के विघटन से प्राप्त हो, तो जितने विकिरण का निस्तार करना पड़ेगा, वह थोड़ा नहीं, लगभग दस लाख टन रेडियम के बराबर होगा। दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह हुआ कि कई लाख गैलन रद्दी पदार्थ अगले २५ वर्षों में ही कहीं पर पाट देना पड़ेगा।* साथ ही गैसयुक्त विघटन पदार्थों (Fission materials) को तरल या ठोस रूप में कर देना पड़ेगा या बहुत सावधानी से नियन्त्रित ढंग से छोड़ना होगा।

इन समस्याओं का सामना उन सभी देशों को करना पड़ रहा है, जो न्यैष्टिक ईंधन तैयार कर रहे हैं अथवा तैयार करनेवाले हैं। फसल, जानवर, समुद्री जीव-जन्तु और स्वयं मानव पर विकिरण के प्रभावों का अध्ययन किया जा रहा है। इन क्षेत्रों में गवेषणा-कार्य में तेजी होगी और होनी भी चाहिए, क्योंकि अनेक महत्त्वपूर्ण बातों की हमें जानकारी नहीं है। अमेरिका की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी द्वारा १९५६ में जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित बायोलाजिकल एफेक्ट्स ऑफ एटामिक रैडियेशन (पारमाणविक विकिरण का जीवशास्त्रीय प्रभाव) सम्बन्धी प्रतिवेदन के अन्तिम चार वाक्यों में कहा गया है : "निश्चय ही पृथ्वी पर न्यैष्टिक प्रतिष्ठानों की मनमानी स्थापना ठीक न होगी। परमाणु शक्ति का विकास सजग एवं सुसम्बद्ध नियोजन का विषय है। बुद्धिमत्तापूर्ण योजना बनाने के लिए जो जानकारी आवश्यक है, उसका अधिकांश हमें अभी मालूम

---

* किरण-सक्रिय रद्दी पदार्थों से मुक्ति पाने के सम्बन्ध में जो अमेरिकी रिपोर्ट (राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी) है, उसके अनुसार सन् १९८० ई० तक २० करोड़ गैलन और २००० ई० तक २ अरब ४० करोड़ गैलन रद्दी पदार्थ फेंकना पड़ेगा। कुछ सीमा तक इन पदार्थों को जमा किया जा सकता है, लेकिन यह काम बहुत खर्चीला होगा।

नहीं है। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमें अधिक समय भी नहीं मिला है।"

सम्प्रति किरण-सक्रिय रद्दी पदार्थ जलाशयों में जमा किये जा रहे हैं या उन्हें गड्ढों में गाड़ दिया जा रहा है, पीपों में भरकर समुद्र में डाल दिया जा रहा है या बड़ी नदियों में छोड़ दिया जा रहा है। इंग्लैण्ड में उन्हें पाइप से आयरिश सागर में बहा दिया जाता है। इससे समुद्री जीव-जन्तुओं पर अभी शायद कोई घातक प्रभाव नहीं पड़ा है। समुद्र बहुत विस्तृत और गहरा होता है। लेकिन जैसे-जैसे न्यैष्टिक शक्ति का उत्पादन बढ़ेगा, वैसे-वैसे इन प्रतिष्ठानों को दूर और एकान्त में रखने तथा घातक पदार्थों को फेंकने के मामले को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बना देना पड़ेगा।

समुद्र से लगे हुए हर देश की कुछ दूरी तक समुद्री सीमा होती है, और वहाँ तक उस देश का राष्ट्रीय अधिकार क्षेत्र होता है। लेकिन कोई भी सरकार समुद्री पानी का सीमा से बाहर जाना, सीमा में बाहर से पानी का आना तथा समुद्री जीव-जन्तुओं का इधर-उधर आना-जाना नहीं रोक सकती। यह बात कोई भी व्यक्ति पानी और फाउण्टेनपेन लेकर सिद्ध कर सकता है। यदि स्याही का एक बूँद पानी में एक सिरे पर छोड़ा जाय, तो वह स्थिर पानी में भी बहुत जल्दी फैल जायगा और पूरे पानी को रँग देगा।

सन् १९५४ में प्रशान्त महासागर में पारमाणविक विस्फोटों के बाद जाँच की गयी। समुद्र में सदैव लघु परिमाण में किरण-सक्रियता होती है, जिसका कारण मुख्यतः पोटैशियम तत्त्व के किरण-सक्रिय अंश का होना है। परीक्षण के दो दिन बाद बिकिनी के निकट समुद्र की ऊपरी सतह के पानी में सामान्य से १० लाख गुनी अधिक किरण-सक्रियता थी। समुद्र की तरंगों ने, जिनके बारे में हम बहुत ही कम जानते हैं, दूषित पानी को दूर तक फैला दिया और चार मास बाद बिकिनी से डेढ़ हजार मील की दूरी पर जल की किरण-सक्रियता तीन गुनी हो गयी थी।

व्याप्त हो जाने के बाद किरण-सक्रियता स्वयं समाप्त होती जाती है। उसका उसी प्रकार क्षय होता रहता है, जिस प्रकार हमारे पैठ जाने पर स्नान के गर्म पानी की गर्मी घटती जाती है। परमाणु के कुछ प्रकार अपनी किरण-सक्रियता वस्तुतः बहुत जल्दी खो देते हैं और कुछ की किरण-सक्रियता अपेक्षाकृत अधिक देर में समाप्त होती है। इनमें किरण-सक्रिय स्ट्रोंशियम बहुत दिनों तक कायम रहती है। इसकी आधी सक्रियता समाप्त होने में १० हजार दिन लगते हैं। यही कारण है कि जब कि दूषित पानी परीक्षण-क्षेत्र से बहुत दूर तक चला गया, किरण-सक्रियता पहले तेजी से घटी और फिर उसके घटने की गति अधिक मन्द हो गयी। फिर भी १३ मास बाद बिकिनी से साढ़े तीन हजार मील की दूरी पर समुद्र के पानी में मामूली किन्तु स्पष्ट रूप से किरण-सक्रियता थी। यह कहना सम्भव नहीं है कि निकटवर्ती समुद्री जीव-जन्तुओं को क्या पीड़ा उठानी पड़ी होगी या तात्कालिक अथवा प्रजनन-शक्ति पर हानिकर प्रभाव पड़ने के पूर्व कितनी किरण-सक्रियता होनी चाहिए। लेकिन इन सबके बावजूद एक बात निश्चित दिखाई पड़ती है। सारे संसार में न्यैष्टिक शक्ति-केन्द्रों के हो जाने पर अधिक-से-अधिक सतर्कता से जितने परिमाण में किरण-सक्रिय रद्दी पदार्थ छोड़े जायेंगे, वह परिमाण उससे भी अधिक होगा, जो विनाशकारी उद्जन और परमाणु बमों की लड़ाई में छूटेगा। ● ● ●

तीसरा अध्याय

इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह स्पष्ट है कि ऐसे संसार में, जो मानव-स्वास्थ्य और मानव-कल्याण के मन्द किन्तु निश्चित ह्रास को रोकना चाहता है, पूर्ण राष्ट्रीय प्रभुता कायम नहीं रह सकती। यदि ऐसा नहीं होता (अर्थात् पूर्ण राष्ट्रीय प्रभुता बनी रहती है), तो हम भूमि और आकाश से स्वाभाविक रूप में मिलनेवाली किरण-सक्रियता के अलावा होनेवाले उच्च शक्ति के विकिरण के शिकार हो जायेंगे। रक्त तथा आँत की बीमारियों और फिर आगे चलकर ल्यूकेमिया (रक्त में श्वेत जीवाणु अधिक होने का रोग) और कैन्सर का खतरा हम स्वयं बुला रहे हैं। हम यह सम्भावना बढ़ाते जा रहे हैं कि भावी पीढ़ियों के बच्चों में जन्मजात विकार होंगे और इन विकारों में कुछ तो सचमुच गम्भीर होंगे। यदि हमारी खेती या मछली मारने के जलाशय में किरण-सक्रियता आती है, तो हमें अपनी खाद्य-सामग्री नष्ट कर देनी पड़ेगी या छोड़ देनी पड़ेगी।

कोई भी राष्ट्र यह दावा नहीं कर सकता कि वह अपनी मर्जी के अनुसार अपने साथ भी कुछ कर सकता है। उसके ऊपर आकाश में जो हवा है, वह बहकर विश्व के दूसरे देशों में जायगी। उसके चारों ओर समुद्र में जो पानी है, वह शेष समुद्र की ऊपरी सतह ही नहीं, बल्कि गहराई में भी जायगा और उधर से पानी इधर आयेगा। अब वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपने तक ही सीमित नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का होना कोई नैतिकता नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण आत्म-स्वार्थ है। जिन देशों को आप हानि पहुँचा सकते हैं और जो देश आपकी हानि कर सकते हैं, अथवा जिनके साथ मिलकर आप लाभ उठा सकते हैं, उनसे समझौता करने में ही लाभ है।

विवेकपूर्ण आत्म-स्वार्थ नीतिपरायणता नहीं है, फिर भी नैतिकता शायद

त्वरित या कम कष्टकर मार्ग से उसी निष्कर्ष पर पहुँचेगी। सत्य का पालन करने के लिए जब क्वेकर दूकानदारों ने चीजों का एक बँधा हुआ दाम रखना शुरू किया, तो उनकी अधिक बिक्री हुई। खरीद करनेवालों ने देखा कि वे किसी बच्चे या सन्देशवाहक को भेजकर भी उसी श्रेणी की वस्तुएँ पा सकते हैं, जो उन्हें स्वयं जाकर खरीदने पर मिलती हैं। जल्द दूसरे दूकानदारों के यहाँ भी एक बँधा दाम रखना रिवाज जैसा हो गया, क्योंकि इससे लाभ होता था। ईमानदारी सर्वोत्तम नीति थी और आज भी सर्वोत्तम नीति है।

यही हाल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का भी है। विश्व-ऋतु-विज्ञान-संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक विशिष्ट अभिकरण है, लेकिन उसकी सदस्य संख्या राष्ट्रसंघ की सदस्य संख्या से भी कहीं अधिक है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि उक्त संगठन का सदस्य होने में लाभ है, बल्कि यह है कि इसमें अधिक-से-अधिक देशों का सहयोग पाना लाभप्रद रहता है। दूसरे लोगों को अलग रखने में कोई लाभ नहीं है। विशाल पैमाने की परियोजनाओं में मौसम एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। मौसम सम्बन्धी सेवाएँ फसल के रोपने, बोने और काटने से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देकर खाद्यान्न की उपज बढ़ाने में योग देती है, जहाजरानी के लिए और पहले के बंजर तथा अनुन्नत क्षेत्रों में उत्पादन के लिए सहायता प्रदान करती है। वायु सम्बन्धी भविष्यवाणियों और तूफान के सम्बन्ध में चेतावनियों से मछुआ जहाजों को यह समझने में सहायता मिलती है कि किस क्षेत्र में मछली का शिकार करने में सुरक्षा रहेगी। ऋतु-विज्ञान से पाला, बाढ़ और गड़गड़ाहट के साथ तूफान तथा झंझावात की दिशा के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं। पहले से स्थिति का ज्ञान रहने से उड्डयन तथा अन्य प्रकार के यातायात में आज पहले से अधिक सुरक्षा रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार-यूनियन (इण्टरनेशनल टेलीकम्यूनीकेशन

यूनियन) और विश्व-डाक-यूनियन (यूनीवर्सल पोस्टल यूनियन) ये दो अन्य विशिष्ट अभिकरण कम-से-कम व्यय में एक देश से दूसरे देश में डाक तथा संचार-सेवा प्रस्तुत करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के वांछनीय प्रतिरूप हैं।

विश्व-स्वास्थ्य-संघटन बहुत बड़ी सदस्य संख्यावाला एक दूसरा विशिष्ट अभिकरण है, क्योंकि यह राष्ट्रों के ही हित में है कि वे 'सभी लोगों के अधिक-से-अधिक उन्नत स्वास्थ्य प्राप्त करने' और 'रोग-से-बीमारी—बीमारी-से-रोग' का पाप समाप्त करने के लिए कार्य करें। प्लेग किसी भी राष्ट्र की प्रभुसत्ता नहीं मानता। १९४७ में जब मिस्र में हैजा फैला और प्रतिदिन एक हजार व्यक्ति आक्रान्त होने तथा पाँच सौ व्यक्ति मरने लगे, तो वैक्सीन तथा दूसरी दवाएँ पहुँचाने के लिए रसद पंक्ति (सप्लाई लाइन) बनाने में बीस राष्ट्रों ने सहयोग किया। १० सप्ताह के भीतर महामारी नियंत्रित कर ली गयी।

आज भी विश्व के ढाई अरब निवासियों में से अधिकांश किसी-न-किसी प्रकार के रोग से ग्रस्त हैं। यह बीमारियाँ रोकी जा सकती हैं, दूर की जा सकती हैं या कम-से-कम घटायी जा सकती हैं। इन प्रकोपों में तीन सबसे भयानक प्रकोप हैं : मलेरिया, गुप्त रोग और क्षय। अनेक वैज्ञानिकों का विचार है कि तीनों बीमारियों का उन्मूलन किया जा सकता है। अभी तक हम जरूर यह नहीं जान पाये हैं कि कैंसर जैसी बीमारियों को कैसे रोका जा सकता है। जहाँ ज्ञान सुलभ है, वहाँ अब भी उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप देनेवाले प्रशिक्षित व्यक्तियों का बहुत बड़ा अभाव है। सीधे-सादे शब्दों में कहा जाय, तो अधिकांश संसार आज भी उसी स्थिति में है, जिस स्थिति में ब्रिटेन में मजदूरी करनेवाले लोग एक शताब्दी या इससे अधिक पहले थे : लोगों को पुष्टिकर भोजन नहीं मिलता, अस्वस्थकर स्थानों में लोग भेड़-बकरी की तरह भरे हुए हैं, बहुत अधिक सदस्यों के परिवार हैं, बच्चों की मृत्यु-संख्या का अनुपात काफी ऊँचा है, असाध्य

रूप से स्वास्थ्य चौपट है और समय-समय पर महामारियों का प्रकोप होता रहता है।

आधुनिक जन-स्वास्थ्य आन्दोलन का सूत्रपात १८५० के आसपास सर एडविन चाडविक के 'दि सैनीटरी कण्डीशन ऑफ दि लेबरिंग पापुलेशन ऑफ ग्रेट ब्रिटेन' (ग्रेट ब्रिटेन की मजदूरी करनेवाली जनता की स्वास्थ्य-गत अवस्था) शीर्षक युगान्तरकारी प्रतिवेदन से हुआ। चाडविक के उत्तराधिकारी सर जॉन साइमन ने लन्दन नगर के मेडिकल ऑफिसर ऑफ हेल्थ के रूप में अपनी रिपोर्ट में लिखा था :

> "मेरा गहरा विश्वास है कि जब तक जनता की सामाजिक स्थिति में सुधार के महत्त्व को अच्छी तरह नहीं समझा जाता और हम साहसपूर्वक इस कर्तव्य की पूर्ति का बीड़ा नहीं उठाते, तब तक कोई भी स्वास्थ्य-व्यवस्था समय की आवश्यकता को देखते हुए पर्याप्त नहीं हो सकती या उसके द्वारा समाजरूपी ढाँचे के निचले हिस्से में व्याप्त भयानक बुराइयों का अन्त नहीं हो सकता।"

सामान्य स्तर से नीचे की अवस्था जब समाप्त कर दी जाती है, तब कुछ बीमारियाँ कूच कर जाती हैं या अपनी शक्ति खो बैठती हैं। लगभग पचास वर्ष पूर्व ग्लासगो के स्वास्थ्य अधिकारी ने छोटी माता की बीमारी के समय देखा कि एक कमरे की झोपड़ी में रहनेवाले लोगों में प्रति एक हजार पीछे १२५ व्यक्ति पीड़ित हुए तथा २७ की मृत्यु हुई। चार कमरों की झोपड़ी में रहनेवालों के रोग-ग्रस्त होने तथा मरने की यह संख्या प्रति हजार पीछे क्रमशः ११ और एक थी। चीन में आज भी आठ या इससे अधिक व्यक्तियों के हजारों परिवार मिट्टी की दीवार और मिट्टी के फर्श के एक कमरे में बसर करते हैं। हम उनके ढंग की सरकार पसन्द करें या न करें, लेकिन यह सत्य है कि अब इस दुःखद स्थिति को वास्तव में गम्भीरता से ठीक किया जा रहा है। अभी यह देखना है कि भारी अनुपात

से बढ़ती हुई जनसंख्या के हिसाब से गृह-निर्माण सम्बन्धी यह सुधार चल पाता है या नहीं।

एक बात बिलकुल निश्चित है और सुधारक बननेवाले किसी भी व्यक्ति को इसका सामना करना चाहिए : यह सम्भव नहीं है कि विश्व की जन-संख्या अन्धाधुन्ध बढ़ती जाय और लोग भूखों न मरें। सीधा-सा अंक-गणित इस कथन को दृढ़ कर देता है।

यदि प्रत्येक दो माता-पिता के चार बच्चे हैं और उन बच्चों के बच्चे हो जायँ (उन लोगों को छोड़ दिया जाय, जो बचपन में ही मर गये हों या जिनके अपने बच्चे न हों), तो विश्व की जनसंख्या हर पीढ़ी में दूनी हो जायगी। मान लीजिये, एक शताब्दी में तीन पीढ़ियाँ ही होती हैं, तो सन्तानोत्पत्ति में समर्थ चार बच्चों के परिवार के हिसाब से विश्व की ढाई अरब की वर्तमान जनसंख्या सन् २०५० तक लगभग २० अरब, २१५० तक १ खरब ६० अरब और आज से तीन सौ वर्ष बाद २२५० में १० खरब हो जायगी और हिसाब से यह बिल्कुल ठीक है।

भूमि की अन्नोत्पादन-क्षमता हम कुछ भी निर्धारित करें, हम कितने भी बचे-खुचे क्षेत्र में खेती क्यों न करें, समुद्र से प्राप्त खाद्य-तत्त्वों का हम कुछ भी उपयोग करें, लकड़ी, कोयला या दूसरी चीजों से हम कोई भी कृत्रिम खाद्य पदार्थ बनायें, उपर्युक्त समय के पहले ही खाद्य-सामग्री के उत्पादन और निर्माण की सीमा समाप्त हो जायगी। तीन सौ वर्ष कोई बहुत दूर नहीं है। बहुत से लोग तीन सौ वर्ष से पहले तक का अपना वंशवृक्ष बता सकते हैं। सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स ने तीन सौ वर्ष से अधिक पहले शान्ति की प्रतिज्ञा की थी। हममें से बहुत से लोग प्रपौत्र तक देखेंगे। तीन सौ वर्ष का मतलब केवल ९ पीढ़ी ही तो होता है।

समस्या को समझने का दूसरा तरीका यह हिसाब लगाना है कि विश्व की जनसंख्या वस्तुतः कितने दिनों में सारी पृथ्वी को ढँक लेगी। पृथ्वी का अर्ध-व्यास चार हजार मील मान लिया जाय, तो कुल क्षेत्रफल

(समुद्र, दोनों ध्रुव-क्षेत्र आदि सभी को लेकर) ६२ नील वर्गगज होगा। वर्तमान जनसंख्या ढाई अरब है। यदि हर पीढ़ी में यह जनसंख्या दूनी होती जाय, तो ६ शताब्दी में प्रति वर्गगज पीछे एक आदमी पड़ेगा। यह बात बहुत वाहियात जरूर लगती है, लेकिन यह सच है। यह बात भी सच है कि अति जन-संकुलता की वह स्थिति आने के पहले ही इतने लोगों में से अधिकांश भूखों मर जायेंगे।

एक शताब्दी या आधी शताब्दी पहले ब्रिटेन में ४ बच्चे पैदा करने-वाली सन्तानों का होना कोई अद्भुत बात नहीं थी। एलिजाबेथ फ्राई को पन्द्रह वर्ष में ११ सन्तानें हुईं। मैं स्वयं अपने १० भाई-बहनों में सबसे छोटी थी; ४ बच्चे बाल्यावस्था में ही मर गये और शेष ६ में से दो को सन्तानें नहीं हुईं, लेकिन चार से सन्तानोत्पत्ति हुई। ऐसे बड़े परिवारों का होना साधारण बात थी, हालाँकि माल्थस ने जनसंख्या के सम्बन्ध में अपना निबन्ध इससे बहुत पहले लिखा था। कोई भी इसे गलती नहीं मानता था।

यह बिल्कुल सच मालूम होता है कि इतिहास-काल से पहले या प्रारम्भ का मानव 'ऊर्ज्जीव फलिनीभव' का आदेश मानता था। अधिक सन्तान-वाला व्यक्ति भाग्यवान् समझा जाता था। यह बात तब और भी विचित्र लगती है, जब हम अनुभव करते हैं कि सैकड़ों शताब्दियों तक विश्व की जनसंख्या-वृद्धि का अनुपात बहुत कम रहा होगा। इसे भी बहुत सरल ढंग से गणित द्वारा समझाया जा सकता है। यदि 'स' मानव प्राणियों की मूल संख्या है (जो दो से कम नहीं है ! आप चाहें तो आदम और हौवा नाम दे सकते हैं) और 'क्ष' प्रत्येक परिवार में सन्तानोत्पत्ति करनेवाली सन्तानों की संख्या है, तो 'य' पीढ़ी के बाद विश्व की जनसंख्या होगी :

$$स \times (क्ष/२) \times (क्ष/२) \times (क्ष/२) \cdots\cdots \text{ य गुणा}$$

यदि क्ष २ है, तो जनसंख्या बिल्कुल जहाँ की तहाँ रहती है; यदि क्ष ४ है, तो हर पीढ़ी में जनसंख्या दूनी हो जायगी और हर शताब्दी में आठ

गुने के भारी अनुपात से बढ़ती जायगी। अनुमान लगाया जाता है कि तीन सौ वर्ष पूर्व १६५० में विश्व की जनसंख्या लगभग पचास करोड़ थी। हम मान लें कि 'य' कम-से-कम ३०० है, तो हथियार का प्रयोग करनेवाले प्राणी के रूप में मानव १६५० ईसवी से एक सौ शताब्दी पहले रहा होगा। उस स्थिति में

$$र (क्ष/२)^{३००} = ५००,०००,०००$$

लघु गणक की सहायता से इसे आसानी से इस प्रकार हल किया जा सकता है :

मान लिया

स = २, तब क्ष/२ = १.०७ या क्ष = २.१४

यदि स = २००० तब क्ष/२ = १.०३ या क्ष = २.०६

दूसरे शब्दों में सारे संसार में सन्तान उत्पन्न करने की अवस्था तक पहुँचनेवाली सन्तानों की सामान्य संख्या प्रति परिवार में दो से अधिक नहीं थी। आदिम ढंग के गर्भपात के अलावा सन्तति-निरोध की और कोई सम्भावना नहीं थी। जीवन वस्तुतः इतना कठिनतामय था, जोखिमभरा और निर्दयतापूर्ण था कि जो बच्चे पैदा होते थे, उनमें से बहुत थोड़े ही सयाने हो पाते थे।

यदि प्राप्त होनेवाली खाद्य-सामग्री के अनुपात की तुलना में जनसंख्या अधिक बढ़ जाय, तो फिर वैसी ही स्थिति होगी। स्वास्थ्य-सेवाएँ रहें या न रहें, बच्चे भूख से तड़पेंगे और मरेंगे। कृषियोग्य भूमि के लिए निश्चित रूप से प्रतिस्पर्द्धा होगी, किन्तु भूखों मरनेवाले लोग आधुनिक वैज्ञानिक अस्त्रों के आगे टिक न सकेंगे। प्राविधिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र यदि एक-दूसरे से सन्देह न करें और आपस में फूट न पड़े, तो शस्त्ररहित लोगों के मुकाबले वे अवश्य विजयी होंगे, भले ही उन शस्त्ररहित लोगों की संख्या कितनी ही अधिक क्यों न हो। लेकिन अभी के ये निरस्त्र लोग उस समय शस्त्ररहित न रहेंगे। फिर भी विजयी कोई भी हो, समस्या बनी ही

रहेगी। मानव जिस भूमि पर रहता है, उस भूमि की तुलना में उसकी संख्या अधिक न हो जानी चाहिए। यदि उसका परिवार सन्तान उत्पन्न करनेवाले दो बच्चों से अधिक है, तो मानव का अनुपात भूमि की तुलना में अधिक हो जायगा। विश्व के कुछ भागों में आज यही हो भी रहा है।

कभी-कभी बड़ी आशा से यह मान लिया जाता है कि अच्छा भोजन मिलने पर पुरुषों और स्त्रियों की प्रजनन-शक्ति कम हो जायगी। ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं कि भोजन में कम प्रोटीन होने से प्रजनन-शक्ति अधिक होती है या यह दिखाया जाता है कि छोटी खेती जितनी ही बड़ी होगी, परिवार उतना ही छोटा होगा। यदि दूसरे तथ्य न हों, तो ऐसे प्रमाण स्वीकार्य हो सकते हैं। अमेरिका की जनसंख्या में बहुत तेजी से हो रही वृद्धि इस तथ्य को गलत सिद्ध कर देती है, क्योंकि अमेरिका में सबसे अधिक निर्धन लोग भी मिस्र और चीन जैसे देशों के निवासियों की तुलना में बहुत अच्छी हालत में रहते हैं। जापान की तरह यदि कहीं परिवार छोटे हैं और लोगों को बेहतर भोजन मिलता है, तो उसका कारण यह है कि लोग जान-बूझकर परिवार का आकार सीमित रखते हैं, न कि इस तरह का कोई कारण है कि उनमें प्रजनन-शक्ति कम होती है। यह भी कहा जाता है कि अकाल की स्थिति में छोटे परिवार बच जाते हैं, इसलिए कम प्रजनन-शील प्राणी प्रकृति की चयन-प्रक्रिया में बचे रह जायेंगे। बार-बार अकाल पर निर्भर विश्व जनसंख्या का स्थिरीकरण सामग्री के लिए राष्ट्रों में प्रति-स्पर्द्धा समाप्त कर सके, यह कठिन है।

मैंने इस विषय पर इतना विचार इसलिए किया है कि मैं इसे एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न मानती हूँ। कभी-कभी यह दलील पेश की जाती है और शायद तर्क के आधार पर यह दलील ठीक भी है कि पारमाणविक और उद्जन अस्त्रों के परीक्षण से ही नहीं, बल्कि एक्सरे, रेडियम, रेडियो कोवाल्ट आदि अन्य किरण-सक्रिय रद्दी पदार्थों के निस्तार से मानव-जाति पर उत्तरोत्तर विकिरण का जो अधिक प्रभाव पड़ रहा है, उससे एक लाभ यह

होगा कि प्रजनन-शक्ति उत्तरोत्तर घटेगी, भले ही इसके साथ विकृत अंग-वाले बच्चे भी पैदा होंगे और जीवन में आगे चलकर उन बच्चों को और बीमारियाँ होंगी। निश्चय ही यह समस्या का निरर्थक और निर्ममतापूर्ण समाधान है। विश्व का कर्तव्य है कि वह इस बात का उत्तरदायित्व समझे कि जो बच्चे पैदा हों, वे स्वस्थ हों, उनका बाल-जीवन सुखमय हो, वे स्वस्थ, सुखी और उपयोगी वयस्क बनें और बिना कष्ट भोगे उनकी मृत्यु हो। यह बात हमेशा स्वीकार नहीं की जाती। मैं इस बात का खण्डन नहीं कर रही हूँ कि साहसपूर्वक दिक्कतें झेलने से मानव की उन्नति होती है और सृजनात्मक शक्ति मिलती है। प्रायः कठिनाई झेलने से दोनों अच्छाइयाँ होती हैं। मैं जो कहना चाहती हूँ, वह यह कि हमें जान-बूझकर ये कठि-नाइयाँ बढ़ानी न चाहिए। यदि इस विचार को नहीं स्वीकार किया जाता, तो हम दूसरे पूर्वपक्षों के साथ तर्क प्रस्तुत करते हैं।

तब जापान, चीन या भारत जैसे देशों का क्या होगा, जहाँ जनसंख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए कुछ भी कारंवाइयाँ की जायँ, फिर भी प्रतीत ऐसा होता है कि इन देशों में अभी नहीं, तो आगे चलकर बढ़ती हुई समस्या सुधार की सीमा को तोड़कर आगे बढ़ जायगी। उदाहरण के लिए जापान को लीजिये। जन-गणना रिपोर्ट के अनुसार १९४५ में जापान की जनसंख्या ७ करोड़ २० लाख, १९५० में ८ करोड़ ३२ लाख और १९५५ में ८ करोड़ ९३ लाख थी। दस वर्षों में जो जनसंख्या-वृद्धि हुई, वह स्विट्जरलैण्ड की सारी जनसंख्या की तीन गुनी है। शुरू की वृद्धि का एक कारण जापान के भूतपूर्व सैनिकों और प्रवासी जापानियों की वापसी भी था। १९४५ का जन्मानुपात वस्तुतः मृत्यु-अनुपात से अधिक हो गया था। लेकिन यह स्थिति बहुत जल्दी उल्टी हो गयी। यद्यपि जन्मानुपात काफी तेजी से कम हो रहा है, तथापि मृत्यु-अनुपात भी घटता जा रहा है और पश्चिमी देशों के मृत्यु-अनुपात के स्तर पर आ जायगा। इस मृत्यु-अनुपात और जन्मानुपात में अन्तर से जो

स्वाभाविक जनसंख्या-वृद्धि हो रही है, वह अब भी प्रतिवर्ष एक प्रतिशत है। यह वृद्धि शायद अधिक नहीं प्रतीत होती, लेकिन गौर से देखा जाय, तो इस वृद्धि का अर्थ एक शताब्दी में २७० प्रतिशत होना है, क्योंकि यह हिसाब चक्रवृद्धि-व्याज की तरह लगाया जाना चाहिए।

बात इतने पर भी समाप्त नहीं हो जाती। जन्म-अनुपात में जो कमी हुई है, जापान के कल्याण-कार्य मंत्रालय के अनुसार उसका एक कारण सन्तति-निरोध और उससे बड़ा कारण विधि-अनुमोदित गर्भपात है। जनसंख्या की समस्याओं का अध्ययन करनेवाली संस्था (इन्स्टीच्यूशन ऑफ पापुलेशन प्राब्लेम्स) के संचालक अयानोरी ओकासाकी का कहना है कि युद्ध के बाद सन्तति-नियमन एक बीमारी बन गया था। उसके साथ ही सम्भवतः गर्भनिरोधक उपकरणों और उनके प्रयोग सम्बन्धी ज्ञान की सुलभता से यौन सम्बन्धी नैतिकता में खतरनाक रूप से गिरावट हुई। गर्भनिरोध के उपकरणों की बिक्री को वैधता प्रदान करनेवाले १९४८ के सुसन्तति संरक्षण कानून में १९५२ में संशोधन करके जिम्मेदार डॉक्टर के द्वारा पति-पत्नी की सहमति से गर्भपात कराये जाने को भी वैध कर दिया गया। इसका फल यह हुआ कि १९५४ में सहमति से ११,४३,०५९ गर्भ गिराये गये, जब कि पैदा होनेवाले बच्चों की कुल संख्या १७,६५,१२६ थी। १९५५ में रजिस्ट्रीशुदा गर्भपातों की संख्या १७,२७,०४० तक पहुँच गयी। यह बात बिल्कुल अच्छी नहीं है।

पूछा जा सकता है कि इसका शान्ति से क्या सम्बन्ध है? शान्ति से इसका बहुत बड़ा सम्बन्ध है। शान्तिवादी और शान्तिप्रिय लोग विश्व की समस्याओं की यदि सचमुच चिन्ता करते हैं, तो वे निश्चित रूप से सुगम समाधान की बात सोचेंगे। मैं जिस बात को जोर देकर समझाने का प्रयास कर रही थी, वह है जनसंख्या-वृद्धि, फिर वह चाहे प्राविधिक दृष्टि से उन्नत देशों की जनसंख्या-वृद्धि हो या अर्द्धोन्नत देशों की।

जापान प्राविधिक दृष्टि से उन्नत देश है। वहाँ कृषि वस्तुतः बहुत थोड़ी होती है। देश का अधिकांश भाग पहाड़ी है और उन पहाड़ों में या तो जंगल हैं या कुछ पैदा नहीं होता। जो भी कृषियोग्य भूमि है, उसमें सघन खेती होती है। ट्रेन से यात्रा करते समय रेलवे लाइन तक सटे हुए खेत, और जहाँ तक सम्भव है, वहाँ तक पहाड़ों के ऊँचे हिस्से तक खेत के टुकड़े दिखायी पड़ते हैं। जापान में खेती करनेवाले प्रति परिवार पर जोती-बोयी जानेवाली भूमि का अनुपात दो एकड़ है, जब कि जर्मनी में साढ़े बारह एकड़, फ्रान्स में २१ एकड़, अमेरिका में ४८ एकड़ और डेनमार्क में ८० एकड़ है। जापान की भूमि भी कोई खास अच्छी नहीं है। जापान में गेहूँ का प्रति एकड़ उत्पादन डेनमार्क का केवल एक-तिहाई है। धान की पैदावार उसी रेखा के देश इटली और स्पेन की पैदावार से कम है। कुल क्षेत्र, जिसमें खेती की जा सकती है, डेढ़ करोड़ एकड़ है, अर्थात् प्रति व्यक्ति पीछे एक एकड़ के पंचमांश से भी कम भूमि पड़ती है। ब्रिटेन में प्रति एकड़ जो पैदावार होती है, उसके हिसाब से जापान में एक व्यक्ति के लिए डेढ़ एकड़ भूमि चाहिए (यदि वह व्यक्ति शाकाहारी हो, तो इससे कम जमीन भी ठीक है।) जापानियों को खाद्य-पदार्थों का आयात करना ही पड़ेगा। वे अपने भोजन की काफी पूर्ति मछली से भी करते हैं। बाहर से आनेवाले खाद्य-पदार्थों और कच्चे मालों का मूल्य चुकाने के लिए उन्हें कारखानों में तैयार चीजें निर्यात करनी पड़ेंगी। ऐसा न करें, तो उन्हें किसी तरह और कहीं जाकर रहना होगा या वे भूखों मर जायेंगे।

हम ब्रिटेनवासी इन लोगों की, जिन्हें हम कभी-कभी तौहीनी के साथ 'पीले रंग का नाटा आदमी' कहते हैं, प्रतियोगिता नहीं पसन्द करते। सचमुच यह अपूर्ण प्रतियोगिता है। उनकी कार्यगत स्थिति हमारे यहाँ की स्थिति से कहीं बदतर है, इसीलिए वे सस्ती कीमत में अच्छी चीजें देने में हमें मात कर देते हैं।

जापानियों ने कई बार अपने देश से बाहर जाकर बसने का प्रयत्न किया। मंचूरिया और कोरिया में जड़ जमाने में उन्हें सफलता भी मिली। लेकिन वे क्षेत्र उनसे छुड़ा लिये गये। उन्होंने चीन को जीतने और उसके साधनों का उपयोग करने की कोशिश की और इसमें वे करीब-करीब सफल भी हो गये थे। वे आस्ट्रेलिया में जाकर बसना चाहेंगे, लेकिन यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आस्ट्रेलिया उन्हें नहीं चाहता। बैंकाक से मेलबोर्न जाते समय विमान पर एक सम्पन्न आस्ट्रेलियाई महिला ने मुझसे बातचीत के बीच कहा : "इसके लिए जापानी ही दोषी हैं, उन्हें इतने बच्चे नहीं पैदा करने चाहिए।"

यह समस्या का सुगम समाधान है। उन्हें इतने बच्चे नहीं पैदा करने चाहिए। बात ठीक है, वे इस बात की कोशिश कर भी रहे हैं। चूँकि सन्तति-निरोध हमेशा उतना सफल नहीं होता, जितना उसका विज्ञापन किया जाता है (कम-से-कम उस हालत में तो उतना सफल नहीं ही होता, जब प्रयोग करनेवाली जनता देहाती और अनुभवहीन हो) और साधारण लोगों से आत्म-संयम की इतनी अधिक आशा नहीं की जा सकती, जिसका फल यह होता है कि १७ लाख गर्भ गिराये जाते हैं। अवैध रूप से जो गर्भ गिराये जाते हैं, उनकी संख्या तो अलग ही है। फिर भी जनसंख्या बढ़ रही है।

मैं तो इसका उत्तर नहीं जानती। क्या आप इसका उत्तर जानते हैं? क्या युद्ध इसका उत्तर है? दो वर्ष पूर्व जापान की तरुण ललनाओं ने मुझसे जो प्रश्न किये, उनमें दो प्रश्न यह थे : "अपने बच्चों को हम कैसी शिक्षा दें कि दूसरे देशों में जाकर बसनेवालों के रूप में उनका स्वागत हो सके?" और "हम उन्हें कैसे शिक्षित करें कि युद्ध बुरी चीज है?"

इस तथ्य के बावजूद कि कोरिया का युद्ध जापानियों के लिए परमात्मा का वरदान सिद्ध हुआ (ऐसी बात के लिए यदि इस प्रकार के शब्द का व्यवहार किया जा सके तो), यह स्त्रियाँ पुनः अपने देश में सेना का जोर बढ़ाना नहीं चाहतीं। इस युद्ध से जापान के उन भारी उद्योगों के लिए

काम मिल गया, जिनमें चीन से युद्ध के समय खूब काम हो रहा था और जो जापान पर लादे गये निरस्त्रीकरण के बाद फिर ठंडे पड़ गये थे। जापान पूर्व का शस्त्रागार बन गया और अब वहाँ बेकारों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। किन्तु जापान की अधिकांश श्रमजीवी जनता अनुभव करती है कि बेकारी का दिन दूर नहीं है।

एक जापानी छात्र ने, जिसे मैंने थोड़ा कम कठिन श्रम करने और समय मिलने पर पेरिस के शिल्प-सौन्दर्य का आनन्द लेने के लिए सलाह दी थी, मुझे बहुत भयानक शब्दों में उत्तर दिया : "लेकिन श्रीमती लान्सडेल, मेरे देश में आनन्द लेने को कोई सद्गुण नहीं समझा जाता।" बौद्ध-धर्म सिखाता है कि मानव-जीवन का उद्देश्य तृष्णा को मारकर तृष्णा से मुक्ति होना चाहिए। फिर भी अधिकांश लोग आर्थिक और सैनिक सुरक्षा चाहते हैं और हम उन्हें सहयोग देकर नहीं, तो अपने उदाहरणों से सिखा रहे हैं कि वे उन भोग-विलासों की तृष्णा करें, जिन्हें हम भोग रहे हैं।

हम सहयोग दे रहे हैं। राष्ट्रसंघ के अधिकांश कार्यों के मूल में जो आदर्शवाद है, मैं उसकी कीमत कम नहीं करना चाहती। उदाहरण के लिए खाद्य एवं कृषि-संघटन को लीजिये। उसका जन्म मई १९४३ में अमेरिका में आयोजित हाट स्प्रिंग्स कान्फ्रेन्स में हुआ। ४४ राष्ट्रों ने अभाव से मुक्ति के द्वारा स्थायी शान्ति उपलब्ध करने के लिए एक साथ मिलकर काम करने की घोषणा की। उन्होंने स्वीकार किया कि :

> संसार की दो-तिहाई जनता को आवश्यकताभर का पुष्ट भोजन नहीं मिलता।
>
> यदि उन्हें ठीक प्रकार का खाना मिले, तो उनके स्वास्थ्य में असाधारण सुधार किया जा सकता है।
>
> विश्व के किसान, जो कुल जनसंख्या के दो-तिहाई हैं, पर्याप्त उत्पादन कर सकते हैं, बशर्ते कि वे सर्वोत्तम प्रणाली और उपकरणों से खेती करें।

अधिक उत्पादन और समुचित वितरण के द्वारा सभी लोगों के लिए पूरे समय तक काम की व्यवस्था की जा सकती है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों को एक साथ मिलकर काम करना चाहिए। उन्होंने एक सीमा तक मिलकर काम किया भी है। जो देश खाद्य एवं कृषि-संघटन में शामिल होते हैं, वे प्रतिज्ञा करते हैं कि हम अकाल और समुचित पुष्टिकर भोजन की कमी दूर करने के लिए प्रयास करेंगे। इस संघटन का मुख्य कार्य विशिष्ट प्राविधिक परामर्श और प्रशिक्षण की व्यवस्था करना रहा है। स्वयं खाद्यान्न, रासायनिक खाद और कृषि-यंत्रों की खरीद तथा बिक्री करने के लिए धन सुलभ नहीं हुआ है, और न ही खाद्य एवं कृषि-संघटन को यह सब करने का अधिकार है, तथापि उसने अतिरिक्त खाद्य पदार्थों की बिक्री के सम्बन्ध में सिद्धान्त निर्धारित किये हैं और आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् योजना बना रही है कि खाद्यान्न की कमी का सामना करने के लिए क्या किया जा सकता है।

संक्षेप रूप में यूनिकेफ (UNICEF) के नाम से प्रसिद्ध राष्ट्रसंघीय बाल कोश सामग्री के रूप में सहायता देने से भी कहीं अधिक कार्य कर रहा है। वह आशा प्रदान कर रहा है, आत्म-सहायता को प्रोत्साहन दे रहा है, स्थायी महत्त्व की राष्ट्रीय एवं बाल-कल्याण-प्रशिक्षण-सेवाओं, दुग्ध-सुरक्षा-प्रतिष्ठानों, क्षयविरोधी अभियानों का सूत्रपात कर रहा है और इसके साथ ही अकाल या बाढ़ के शिकार बच्चों को संकटकालिक सहायता भी देता है।

मैंने इन सब बातों को केवल उदाहरण के लिए यहाँ प्रस्तुत किया है।

फिर भी यह दुःख की बात है कि पारस्परिक सहायता के इन कार्यों में हम ब्रिटिश.लोग बहुत ही कम योग दे रहे हैं। प्राविधिक सहायता-मण्डल के प्रधान के कथनानुसार ब्रिटेन राष्ट्रसंघ के प्राविधिक सहायता-योजना में जितना धन देता है, राष्ट्रसंघ ब्रिटेन में प्रशिक्षण कार्य और सामग्री की खरीद में उसका तीन गुना व्यय करता है। इस तथ्य पर पक्का विश्वास करने के

लिए कोलम्बो योजना पर नजर डाली जा सकती है। केन्द्रीय आँकड़ा कार्यालय द्वारा तैयार किये गये और हर मैजिस्टीस स्टेशनरी आफिस द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय आय-व्यय के आधिकारिक आँकड़ों की जाँच करने से प्रकट होता है कि १९५५ में समुद्र पार के देशों द्वारा ब्रिटेन के लिए ५ करोड़ ४० लाख पौण्ड के चालू अनुदान दिये गये, जब कि समुद्र पार के देशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघटनों को ब्रिटेन द्वारा केवल ५ करोड़ ९० लाख पौण्ड चालू अनुदान के रूप में दिया गया।

उसी वर्ष हमने सैनिक प्रतिरक्षा (नागरिक प्रतिरक्षा व्यवस्था को छोड़कर), युद्ध पेन्शनों, सेवा अनुदानों, युद्ध से क्षति के मुआवजों, युद्धोत्तर ऋणों और राष्ट्रीय ऋण के ब्याज की मद में १ अरब ५७ करोड़ ६० लाख पौण्ड खर्च किये। १ अरब ५७ करोड़ ६० लाख पौण्ड प्रतिरक्षा पर व्यय और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के कार्य पर ५ करोड़ ९० लाख पौण्ड से भी कम खर्च! कोई भी व्यक्ति सोचेगा कि किसी बीमा पॉलिसी के भुगतान के लिए भी इतनी रकम तुच्छ है।

विशेष राष्ट्रसंघीय आर्थिक विकास कोश (SUNFED) में भी हमने तत्काल सहयोग देने से इनकार न किया, जिसका धन अविकसित देशों में मार्ग, स्कूल और अस्पताल निर्माण जैसे औद्योगिक तथा कृषि-विस्तार-कार्य करनेवाली सार्वजनिक परियोजनाओं में लगेगा। हम तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण समझौता होने तक नहीं स्थापित किया जाना चाहिए। रूस असहमत है और ऐसी सम्भावना है कि कोश बिना हमारे सहयोग के ही स्थापित होगा तथा रूस उसे सहयोग देगा। कोई भी व्यक्ति सोचेगा कि विवेकपूर्ण आत्म-स्वार्थ से तो ऐसा विवेक जाग्रत हो सकता था कि हमारा यह काम मूर्खतापूर्ण है। ● ● ●

चौथा अध्याय

जनसंख्या के इस प्रश्न को मैं इतने पर ही नहीं समाप्त कर दे सकती, क्योंकि सैनिक गुटों और सैनिक प्रतिरक्षा व्यवस्थाओं का एक उद्देश्य आबादी के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को रोकना या यथास्थिति को बनाये रखना भी है।

यथास्थिति को राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय परिधि में सीमित कर रखना अब सम्भव नहीं रह गया है। यह भारतीय महासागर को बाँध देने जैसा ही है। जीवन के रहन-सहन के स्तर में जो असमानता है, वह इतनी अधिक है कि उसे अब जहाँ का तहाँ कायम नहीं रखा जा सकता। जनसंख्या का घनत्व जल्दी ही बहुत अधिक बढ़ जायगा।

युद्ध में यह शक्ति नहीं है कि वह असन्तोषप्रद अवस्था को कायम रख सके; वह उस अवस्था में परिवर्तन कर देता है, लेकिन परिवर्तन के लिए सर्वोत्तम या एकमात्र तरीका युद्ध नहीं है। युद्ध किसी तानाशाह या सरकार को जरूर समाप्त कर सकता है, लेकिन वह उन समस्याओं को हल नहीं कर सकता, जो विश्व की प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। मुझे विश्वास नहीं है कि उद्‌जन बम को अस्त्र बनाकर निर्दयतापूर्वक लड़ा गया युद्ध भी चीनी जनता की वंशवृद्धि को रोक सकेगा। १ मार्च १९५४ को परीक्षित उद्‌जन बम की तरह के यूरेनियम २३८ युक्त एक दर्जन उद्‌जन बम अपनी विस्फोटोत्तर धूलि से पूरे ब्रिटेन को ढँक ले सकते हैं। किन्तु ब्रिटेन बहुत छोटा देश है और उसका कई गुना क्षेत्र चीन में समा जायगा। यदि हम बमवर्षा से चीन के बड़े नगरों में और उसके आसपास दस करोड़ चीनियों का संहार कर दें, तो भी ५० करोड़ चीनी बच रहेंगे और उनका जीवन आज के जीवन की तुलना में शायद ही अधिक बुरा होगा। उन

विस्फोटों की किरण-सक्रिय धूलि हमारे देश में भी आयेगी और हमारे बाद आनेवाली पीढ़ी तथा उस पीढ़ी के बाद आनेवाली पीढ़ियों के लोगों को हमारी इस मूर्खता का मूल्य चुकाना पड़ेगा।

ऐसे संकेत दिखाई पड़ रहे हैं कि चीन सरकार बढ़ती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप अपने तथा अपने उत्तराधिकारियों के सम्मुख आनेवाली समस्याओं को अनुभव करने लगी है।* मुझे पक्का विश्वास है कि वह शीघ्र ही इस समस्या को अच्छी तरह समझ जायगी। स्वास्थ्य-सेवाओं के विस्तार, जीवन-यापन की बेहतर व्यवस्था, अधिक पुष्टिकर आहार की प्राप्ति और काफी संख्या में डॉक्टरों तथा नर्सों के प्रशिक्षण के फलस्वरूप यह जन-संख्या मृत्यु-अनुपात में कमी के साथ-साथ और भी तेजी से बढ़ेगी और कम-से-कम कई दशाब्दियों तक, जब तक कि जन्मानुपात नाटकीय ढंग से न घटने लगे, सन्तुलित न होगी। हम उसकी इस समस्या का निराकरण नहीं कर सकते। वर्तमान चीनी सरकार को राष्ट्रसंघ में स्थान देने से इनकार करके हम निश्चय ही चीनियों को जनसंख्या की यह समस्या और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव डालनेवाली दूसरी समस्याएँ हल करने में सहायता नहीं कर रहे हैं। लोग यह समझते थे कि उत्तरदायित्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया जायगा। राष्ट्रसंघ की सक्रिय सदस्यता से कुछ भी विशेषाधिकार मिलते हों, एक और शक्तिशाली कम्युनिस्ट राष्ट्र के आने से कुछ भी परेशानी बढ़ती हो, वह सब इस बात की तुलना में कुछ भी नहीं है कि जनवादी चीन राष्ट्रसंघ में सहयोग करेगा और वहाँ से नहीं हटेगा।

हो सकता है, जनसंख्या की यह समस्या ऐसी हो कि कम्युनिस्ट देशों को परस्पर सहयोग से उसका सामना करना पड़े। जब मैं चीन में थी, ऐसे कई चीनियों से मेरी बातचीत हुई और मैंने उनसे कहा कि आपका प्रयास अभी उसी तरह का है, जिस तरह ट्रेन के रवाना होते समय उसे

---

* देखिये, आब्जर्वर, ९ सितम्बर १९५६।

पकड़ने के लिए प्रयास करनेवाले व्यक्ति का होता है। उन चीनियों का पक्का विश्वास है कि वे (चीनी लोग) मंगोलिया और साइबेरिया में फैल जायेंगे और उन क्षेत्रों के लोग जरूर उनका स्वागत करेंगे। ऐसा हो सकता है। इतना ही यकीन उन्हें इस बात का भी है कि जनसंख्या की समस्या का हल करने के लिए उन्हें शक्ति का सहारा न लेना पड़ेगा। एक प्रमुख चीनी ईसाई ने मुझसे कहा : "हमने अतीत में अपने विरुद्ध कई बार शक्ति का प्रयोग किया है और यद्यपि कुछ समय के लिए वह शक्ति-प्रयोग सफल रहा, लेकिन अन्ततः आगे चलकर वह विफल ही हुआ। क्या यह सम्भव है कि हम ऐसी प्रणाली अपनायेंगे, जिसकी विफलता का हमें पहले से ही विश्वास है? हम अपनी प्रतिरक्षा करेंगे, लेकिन हम अभ्याक्रमणकारी न बनेंगे।"

बात ठीक है, लेकिन यह सब प्रतिरक्षा और अभ्याक्रमण की परिभाषा पर निर्भर है। धीरे-धीरे कहीं पर घुसना क्या अभ्याक्रमण है?

व्यावहारिक शान्तिवादी के सामने जो समस्या है, वह यह कि अभ्याक्रमण और प्रतिरक्षा की लड़ाइयों को किस प्रकार उस जनसंख्या के हेरफेर का साधन बनाया जाय, जो अब पहले से कायम किसी सीमा में बँधी नहीं रह सकती। स्वास्थ्य और चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान के प्रसार पर आपत्ति करना अब समय से पीछे पड़ गया है। यह प्रसार होता रहेगा। मेरा खयाल है यह आपत्ति इसलिए की जाती है कि बढ़ती हुई समस्या पर हमारा ध्यान जाय। ऐसे ज्ञान को किसी भी प्रकार से बहुत दिनों तक गुप्त नहीं रखा जा सकता।

शान्ति के लिए सबसे बड़ा खतरा भारत जैसे देश से नहीं है, जिसकी जनसंख्या भले ही तेजी से बढ़ रही है, लेकिन जो न तो प्राविधिक दृष्टि से इतना अधिक शक्तिशाली है और न संवैधानिक दृष्टि से इतना युद्धवादी है कि अपने क्षेत्र का विस्तार करना चाहे या दूसरे देशों को इस बात के

लिए बाध्य करे कि वे अपने यहाँ भारतीयों को बसायें। यह सच है कि भारत और पाकिस्तान कश्मीर के प्रश्न पर या भारत और पुर्तगाल गोवा के प्रश्न पर झगड़ा कर सकते हैं, लेकिन इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि ये झगड़े युद्ध का रूप ले लेंगे। और यह बात तो बहुत ही असम्भव है कि ये झगड़े यदि युद्ध का रूप लें भी, तो युद्ध का विस्तार होगा। यह भी सच है कि प्रवासी भारतीय, भारत और दक्षिण अफ्रीका जैसे अपने नये देश के बीच, विवाद का कारण बन सकते हैं। सभी प्रकार के झगड़े और विवाद उठेंगे ही। राष्ट्रसंघ जितना ही अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण एवं निष्पक्ष रहेगा, उसके विशिष्ट अभिकरणों का काम जितना ही अधिक सफल होगा, उतनी ही अधिक इस बात की सम्भावना रहेगी कि ऐसे विवाद उसके पास या विश्व-न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये जायँगे और उतनी ही कम इस बात की सम्भावना रहेगी कि उनके निर्णय या सलाह की अवहेलना हो। इसके लिए जरूरी है कि बड़ी शक्तियाँ आदर्श प्रस्तुत करें, जो ब्रिटेन ने हमेशा नहीं किया है।

कहीं अधिक बड़ा खतरा प्राविधिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों से है। जापानियों ने अपने लिए जो कठोर तरीके अपनाये हैं, उससे वे अपनी जनसंख्या स्थिर कर लेंगे, लेकिन निस्सन्देह रूप से वह जनसंख्या आज की अपेक्षा अधिक होगी और उसका जीवन-स्तर नीचा होगा। यदि हम (जैसा कि आज कर रहे हैं) उन्हें अपने संविधान का उल्लंघन और पुनर्शस्त्रीकरण करने दें, तो उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे फिर पूर्व के लिए खतरा न बन जायेंगे। जिसने भी देखा है कि उन्होंने चीन में क्या किया या जिसने भी जापान के शिविर में युद्धबन्दी रहनेवाले किसी ब्रिटिश सैनिक से बात की है, वह इस बात को अच्छी तरह जानता होगा कि जापानी कितने कठोर और निर्दयी होते हैं। प्रथम परमाणु बम छोड़ने से हमें यदि किसी प्रकार का खेद है, तो उस भावना के कारण हमें यह न समझ लेना चाहिए कि जापानी देवदूत हैं। जापान की स्त्रियाँ ऐसा नहीं समझतीं।

वे अपने देश में सैनिकवाद के फिर से लादे या प्रारम्भ किये जाने की बात से भय खाती हैं।

हमारी नीति के बावजूद यदि वे अपने रहने के लिए लड़ाई जैसे प्रयास से विरत रहना चाहें, तो उनके सामने और क्या रास्ते हो सकते हैं ? यहाँ फिर मैं सोचती हूँ कि उत्तर बहुत कुछ राष्ट्रसंघ की महत्ता और व्यापकता पर निर्भर करता है, इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्रसंघ को सैन्य शक्ति से नहीं, बल्कि सदस्यों की निष्ठा एवं स्वेच्छामूलक सहयोग से किस हद तक मजबूत बनाया जाता है। कोई भी राष्ट्र, जो विस्तारवादी युद्ध से बचना चाहता है, लेकिन यह नहीं समझ पाता कि अपना बजट सन्तुलित करने और अपनी भोजन-समस्या हल करने के लिए हम क्या करें, वह बिना किसी संकोच के शेष संसार के मित्र देशों से इस सम्बन्ध में सलाह माँग सकता है। ऐसे संसार में, जहाँ युद्ध अविचारणीय बन चुका हो, ऐसा करना बिलकुल स्वाभाविक होगा। इस विषय में अधिक विचार करने के बजाय हम याद कर सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार से सहायता माँगकर माल्टा ने यही किया था। मुझे पक्का विश्वास है कि जब विभिन्न देश इतने अधिक सभ्य हो जायेंगे कि नर-संहार के आधुनिक तरीकों का अन्त हो जायगा, तब ऐसे अवसर बार-बार आयेंगे।

किन्तु यदि अवस्था दूसरी हो और सलाह माँगी न जाय, लेकिन स्पष्ट रूप से उसकी जरूरत हो, तो वह सलाह तभी दी जा सकती है, जब राष्ट्रों के बीच मजबूत और अच्छा सम्बन्ध हो, जैसा कि किसी सुव्यवस्थित परिवार में होता है। बहुत सुव्यवस्थित परिवारों में कभी-कभी अभिभावकों को किन्हीं बातों पर मतभेद रहता है और बच्चे, खासकर वयःसन्धिकाल में, उद्दण्ड हो जाते हैं तथा अच्छी सलाह एवं अनुशासन मानने से भी इनकार कर देते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चों के विरुद्ध शक्ति-प्रयोग न करने का अर्थ यह नहीं होता कि अभिभावक कमजोर हैं। सदस्यगण मतभेद रखते

हुए साथ-साथ रह सकें और वह मतभेद पीछे पड़ जाय, यह परिवार की शक्ति का परिचायक है।

यह सब बातें बहुत कुछ उन लोगों द्वारा प्रस्तुत आदर्शों पर निर्भर करती हैं, जो अधिक अनुभवी और परिपक्व होने का दावा करते हैं। जो लोग सर्वाधिक शक्तिशाली हैं, वे शक्ति एवं योग्यता से सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद अपनी उस शक्ति एवं योग्यता का उपयोग यदि अपने ही हितों की रक्षा करने के लिए करते हैं, तो उन्हें भी यह आशा रखनी चाहिए कि नये या कमजोर राष्ट्र भी जैसे-जैसे शक्तिशाली होते जायँगे, वैसे-वैसे उन्हीं तरीकों का अवलम्बन करेंगे, और यदि वे राष्ट्र बड़े हुए, तो शक्ति का प्रयोग और भी जोरदार ढंग से करेंगे।

क्या हम यही चाहते हैं ? क्या हम सचमुच यह चाहते हैं कि प्राविधिक दृष्टि से अर्द्धोन्नत देश शक्तिशाली हो जाने पर केवल अपने ही हितों पर ध्यान दें, जैसा कि हम पश्चिमी राष्ट्रों ने किया था ?

बहुत स्वाभाविक है कि अच्छे आदर्श के लाभ और सहयोगपूर्ण वातावरण में शिक्षा से वंचित बच्चे पृथकत्ववादी बन जायँ और उन्हें जिस किसी भी चीज की जरूरत हो, उसे हड़पना चाहें। एशिया के अधिकांश लोग उपनिवेशवादी शक्तियों से ही मुक्त नहीं होना चाहते, वह अपने उन समाजों के शोषण से भी मुक्ति चाहते हैं, जो अधिकांशतः सामन्तवादी हैं। इस काम में कम्युनिस्टों ने उन्हें प्रोत्साहित किया है। कम्युनिस्टों ने प्रायः उनका उपयोग किया है और उन्होंने अपने साथियों के दिमाग में यह बात भरी है कि आप जो भी चाहते हैं, वह कम्युनिज्म में मिलेगा। उन देशों के शासक वर्गों ने, जो लोकतंत्र से कोसों दूर हैं, पश्चिमी देशों को अपनी सहायता के लिए राजी कर लिया है और पश्चिमी देश उनकी इसलिए सहायता करते हैं कि उनकी सहायता का मतलब कम्युनिज्म का प्रसार रोकना है। सोचने पर यह स्थिति सचमुच बहुत भयानक प्रतीत होती है।

सामान्य एशियाई को कम्युनिज्म या लोकतंत्र की चिन्ता नहीं है।

वह भुखमरी के खतरे से मुक्ति चाहता है। वह समझता है कि उपनिवेश-वाद और सामन्तवाद उसकी दीनता को बढ़ानेवाले हैं। उसे अपने विश्वासों की पुष्टि इस बात से दिखायी देती है कि पश्चिम की उपनिवेशवादी शक्तियाँ सामन्तवादी शासकों के साथ हैं। उसका राष्ट्रवाद बढ़ते हुए आत्मसम्मान का एक रूप है।

जो भी सामान्य ब्रिटिश नागरिक इन सब बातों को सोचता है, वह सामन्तवाद का समर्थन नहीं करता। वह कामना करता है कि उपनिवेशवाद के उत्तरदायित्वों से हमें मुक्ति मिल जाय, लेकिन वह यह नहीं समझ पाता कि यह कार्य कैसे हो सकता है, क्योंकि ब्रिटेन के लिए अधिकांश महत्त्वपूर्ण कच्चा माल उपनिवेशों से आता है और दूसरी बस्तियाँ उस रास्ते में सामरिक महत्त्व के स्थान हैं, जिस रास्ते से यह सामान ब्रिटेन आता है। फिर भी वह सोचता है कि एशियाई किसान कम्युनिज्म की दासता के मुकाबले में पश्चिमी ढंग की स्वतंत्रता को पसन्द करेगा और उसे कम्युनिस्टों से बचाना है। अतः वह उसे 'बचाने के लिए' सामन्तवादी शासकों का साथ देता है। एक अर्थ में वह अंशतः सही भी है। जब उपनिवेशवाद का विरोध आतंक का रूप ले लेता है, तो शान्तिप्रिय किसान बाध्य हो जाता है कि वह उसका सामना करने के लिए तत्पर हो।

इस स्थिति के सम्बन्ध में दो क्वेकरों का एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत दृष्टिकोण है। दोनों पूर्व के रहनेवाले हैं, दोनों विश्वविद्यालयों में महत्त्वपूर्ण पदों पर हैं और दोनों को न्याय तथा सत्कर्म की गहरी चिन्ता है। एक है जापानी महिला, जिसने लिखा है :

> "अब इस बात में किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं रह गयी है कि कम्युनिज्म का मुकाबला अस्त्र से नहीं किया जा सकता, और एशिया में तो किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता, जहाँ कम्युनिज्म का विरोध करनेवालों के अग्रणी ऐसे पुराने सामन्तवादी तत्त्व हैं, जिनका हित अपने देश

की जनता से कहीं अधिक विदेशी शक्तियों के साथ जुड़ा हुआ है। उनके विरुद्ध खड़े देश के राष्ट्रवादी और सच्चे लोकतंत्रवादी तत्त्वों को न चाहते हुए भी कम्युनिस्टों के साथ जाना पड़ता है।

"शीत-युद्ध वस्तुतः दो परस्पर विरोधी आर्थिक व्यवस्थाओं का संघर्ष है। इस संघर्ष में पूँजीवाद की स्थिति एशिया में निश्चित रूप से कठिनतामय है। एशियाई देशों में राष्ट्रीय आय बहुत कम है।.........इस अत्यधिक निर्धनता का अर्थ यह हुआ कि एशियाई देश बहुत अधिक निर्बाध अर्थ-व्यवस्था नहीं स्वीकार कर सकते।.........थोड़ी मात्रा में उपलब्ध खाद्यान्न का न्यायपूर्ण वितरण करना हो, तो कोई भी व्यक्ति राशनिंग की आवश्यकता से इन्कार नहीं कर सकता।

"जहाँ तक बेगार के आतंक का सम्बन्ध है, वह जापान जैसे देश में भी है, जहाँ की राष्ट्रीय आय सामान्य एशियाई देशों की राष्ट्रीय आय से अधिक है और गृहिणियाँ अपना सारा अतिरिक्त समय छोटे-छोटे काम करने में लगाती हैं और पूरे दिन-भर के लिए एक शिलिंग से भी कम पाती हैं। ऐसा काम नाम-मात्र के लिए 'बन्धनमुक्त' है और यदि गृहिणियाँ चाहें, तो इसे छोड़ सकती हैं। लेकिन इसके साथ ही यह भी होता है कि यदि वे कम मजदूरी की शिकायत करें, तो उनसे यह काम छीन लिया जाता है। परिवार के भरण-पोषण के लिए एक छोटी आमदनी भी नहीं छोड़ी जा सकती। इस प्रकार के 'बन्धनमुक्त' काम की तुलना में वह 'बेगार' अच्छी समझी जायगी, जिसमें काम पक्का रहे और उससे मिलनेवाले पारिश्रमिक से भरण-पोषण हो जाय।"

उपनिवेशवाद के विरोध पर विचार प्रकट करते हुए वह आगे कहती हैं :

"यह दुःख की बात है कि इस संघर्ष में वास्तविक अर्थ में

लोकतंत्रवादी दृष्टिकोण के राष्ट्रवादी जनान्दोलनों को कम्युनिस्ट प्रश्रय देते हैं, जब कि तथाकथित लोकतंत्रीय राष्ट्र वहाँ के उन विशेषाधिकारप्राप्त वर्गों का साथ देते हैं, जो सामान्यतः लोकतंत्र-विरोधी होते हैं और जिनका दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी होता है।

"वस्तुतः अधिकांश पश्चिमी लोग यह भूल जाते हैं कि वे एशिया में अपने ढंग की जीवन-प्रणाली अर्थात् नागरिक अधिकार, सामाजिक सुरक्षा-व्यवस्था आदि से युक्त पूँजीवाद की नहीं, बल्कि उस प्रकार की स्थिति की रक्षा कर रहे हैं, जो यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के बाद के प्रारम्भिक काल में व्याप्त थी, जिसमें जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता था और अधिकार-रक्षा के लिए मजदूरों के प्रयास को निर्ममता के साथ कुचल दिया जाता था।

"हम मानते हैं कि पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा उपनिवेशीकरण न किया गया होता, तो एशिया का विकास बहुत विलम्ब से होता। हम मानते हैं कि पश्चिमी शासन में जनता यातायात की आधुनिक सुविधा, चिकित्सा-व्यवस्था और शिक्षा से लाभान्वित हुई है, तथापि इसके साथ ही यह भी सही है कि इन देशों में जो पूँजी-विनियोजन हुआ, उसने स्थानीय लोगों की बहुत कम मजदूरी होने के कारण ऐसे विनियोजन से कहीं अधिक लाभ दिलाया, जो ये राष्ट्र अपने देश में करते।

"मलाया में वार्षिक राष्ट्रीय आय २५० डालर प्रति व्यक्ति तक है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हर मलायावासी को आय ऊँची है। वहाँ इतनी ही बात नहीं है कि सम्पत्ति का बँटवारा इस प्रकार हुआ है कि किसीके पास बहुत अधिक है और किसीके पास बहुत कम, बल्कि प्रति व्यक्ति पीछे लगभग १० डालर विदेशी विनियोजन के ब्याज के रूप में देश से बाहर

जा रहा है। यह स्थिति केवल औपनिवेशिक बस्तियों की ही नहीं है। हिन्देशिया राजनीति दृष्टि से स्वतंत्र है। गत वर्ष (१६५५) वहाँ की सरकार ने अमेरिका की दो प्रमुख तेल कम्पनियों से समझौता किया कि वे अपने लाभ का एक निश्चित अंश (काल्टेक्स ६ करोड़ डालर और स्टैनवक ७ से ८ करोड़ डालर तक) राष्ट्रीय उद्योग में लगायें, तभी उन्हें अपना लाभ हिन्देशिया के बाहर भेजने दिया जा सकता है। इससे दो चीजें स्पष्ट हैं : पहली यह कि पिछले वर्ष तक इन देशों के साधनों से प्राप्त सम्पत्ति निर्बाध रूप से देश के बाहर जाती रही और दूसरी यह कि राजनीतिक स्वतंत्रता रहने से हिन्देशिया के लिए यह सम्भव हुआ कि वह लाभ का कम-से-कम एक अंश तो अपने आर्थिक विकास के लिए रुकवा सकता है।"

उस क्वेकर महिला का कहना है कि यदि मजदूरों को अधिक पैसा देना पड़े और लाभ के उपयोग पर नियंत्रण लगाये जायँ, तो सम्भावना यह है कि एशिया की बहुत बड़ी आवश्यकता होने के बावजूद विदेशों की निजी पूँजी एशिया में विनियोजन से दूर भागेगी। यह एक प्रकार से एशिया के सामने प्रश्न रख देती है : राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र, किन्तु पूँजीरहित होना अच्छा है या राजनीतिक दृष्टि से पराधीन रहकर अपना शोषण कराना ! और क्या राष्ट्रसंघ पूँजी देने के लिए तैयार होगा !

उस महिला ने आगे कहा है कि एशिया के विकास के लिए आवश्यक पूँजी यदि राष्ट्रसंघ से बिना किसी बन्धन के प्राप्त हो सके तो :

"इससे एशिया की आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रगतियों में योग मिलेगा। सच्चे अर्थों में स्वतंत्र एशिया विश्व-शान्ति के लिए बहुत बड़ी शक्ति होगी। कम्युनिज्म का प्रसार रोकने के व्यर्थ प्रयास में अस्त्रों पर जितनी रकम खर्च की जा

रही है, उसकी तुलना में वह खर्च अपने प्रभाव की दृष्टि से बहुत ही सस्ता होगा।"

दूसरे क्वेकर सज्जन एक अंग्रेज हैं, जो काफी समय से सिंगापुर में रहते हैं। मलाया की स्थिति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

"यहाँ लागू संकटकालिक स्थिति शुरू के दिनों में हिंसा का भय दिखाकर धन ऐंठने की रोकथाम की सामान्य समस्या का एक अंग थी। कम-ज्यादा कम्युनिस्ट या दूसरे राजनीतिक प्रभावों से नियन्त्रित अथवा प्रभावमुक्त गिरोहों द्वारा धमकी से काफी धन ऐंठा गया। स्थिति का यह स्वरूप अब भी कायम है, हालाँकि अब वह उतना राजनीतिक नहीं रह गया है। मेरे खयाल से अच्छी जानकारी रखनेवाले लोगों का विश्वास यह है कि कम्युनिस्टों के प्रति सामान्य चीनी का जो रुख है, उसे बनाने में दो तथ्य काम करते हैं : एक ओर तो उसे सुरक्षा-दल का भय है और दूसरी ओर वह यह सोचता है कि हमें ऐसी सरकार को कर देना पड़ता है, जो बहुत जनप्रिय नहीं है। जिनकी सहानुभूति इससे अधिक है, वे शायद कम्युनिस्ट होंगे; लेकिन ऐसे लोगों की संख्या मलाया की चीनी जनसंख्या के एक प्रतिशत से अधिक न होगी।

"ऐसी धमकियों के विरुद्ध सरकार द्वारा व्यक्तियों की रक्षा का प्रश्न किस अवस्था में सामान्य राज्यकर्म के बजाय गृहयुद्ध का रूप ले लेता है? जब लोग गवाही देने में डरते हों, तब समस्या आसान नहीं रह जाती। बहुत सोच-विचार के बाद मेरा विश्वास है कि ऐसी स्थितियों का सामना करने में अदालतें सहायक नहीं हो सकतीं। अदालतों में केवल भोले-भाले लोगों के विरुद्ध ही गवाह मिलेंगे। किन्तु यदि पुलिस को किसीको बन्दी बनाने का अधिकार हो, तो पुलिस को सहयोग देने का प्रश्न

किसी भी व्यक्ति के लिए एक समस्या बन जाती है। सहयोग देने से इनकार करने का मतलब यह है कि वह व्यक्ति गवाही न देकर रकम ऐंठने में योगदान कर रहा है। ऐसा असहयोग करना अपने को उन लोगों के हाथों में सौंपना है, जो बिना शिनाख्त किये सड़कों पर पूरे गिरोह की हत्या कर देते हैं। पुलिस के तरीके ठीक न होने पर उससे कोई सहयोग न करने का अधिकार भी सीमित है। फिर भी कभी ऐसी अवस्था भी उपस्थित हो सकती है, जब कोई व्यक्ति कुछ कहने या करने से इनकार कर दे। इंग्लैण्ड में किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह झगड़े में पड़े बिना जानकारी देने के लिए पुलिस से सहयोग कर सके, लेकिन यहाँ वह स्थिति उत्तरोत्तर समाप्त होती जा रही है। मैं समझता हूँ कि उपद्रवियों द्वारा किसीकी चाची का अपहरंण कर लिये जाने जैसे प्रश्नों के मुकाबले में यह प्रश्न शान्तिवादियों के सामने कहीं अधिक बड़ी कठिनाई प्रस्तुत करता है।"

एक क्वेकर एशिया और पश्चिम के सम्बन्ध निश्चित करनेवाले मोटे तौर के सिद्धान्तों और विशेष रूप से पिछड़ी एशियाई जनता के रहन-सहन के स्तर को सुधारने के लिए चिन्तित है। दूसरा व्यक्ति उस स्थिति में, जिसमें पश्चिमी विचार और तरीके समस्या का हल नहीं कर सकते, शांति और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार शक्तियों से व्यक्तिगत सहयोग की चिन्ता करता है।

किस स्तर पर सरकार से सहयोग का मतलब गृहयुद्ध में भाग लेना है, इस बात का निर्णय करने या किसी प्रकार का व्यक्तिगत व्यवहार निश्चित करने की अपेक्षा यह कहना हमेशा अधिक आसान होता है कि राष्ट्रसंघ को क्या करना चाहिए और दूसरे राष्ट्रों के सहयोग से ब्रिटेन क्या करे।

इस स्थिति में हमें सम्प्रति हल्की जिम्मेदारी को ही निभाना चाहिए।

• • •

पाँचवाँ अध्याय

ब्रिटेन अपनी जनसंख्या १९वीं शताब्दी में तीन से चार गुनी तक बढ़ा लेने में समर्थ रहा और इसके साथ ही उसे जीवन-स्तर उन्नत करने में भी सफलता मिली, क्योंकि उसके पास बुद्धिमान् वैज्ञानिक और इंजीनियर थे, प्रचुर मात्रा में कोयला और इस्पात था और इसके साथ ही था उपनिवेशों में कच्चा माल और सस्ता श्रम। लेकिन दो विश्व-युद्धों ने बहुत बड़ी शक्ति के रूप में ब्रिटेन की स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर कर दिया। उन युद्धों से यह हुआ कि साधनों का तीव्र गति से उपयोग हुआ, ब्रिटेन को कोयले और दूसरी ऐसी वस्तुओं का आयात करना पड़ा, जिनकी कीमत का भुगतान वह निर्यात बढ़ाकर नहीं कर सकता था, ब्रिटेन को अमेरिका की सद्भावना पर निर्भर होना पड़ा। इसके साथ ही अब ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ भाग स्वतन्त्र हो गये हैं, कुछ देश विरोधों और उत्पातों के कारण बोझ ही हैं, कुछ देश राष्ट्रमण्डल के सदस्य तो हैं, लेकिन अब ब्रिटेन की आय के साधन नहीं रह गये हैं और यह बिल्कुल निश्चित है कि शेष बस्तियाँ भी जल्दी या कुछ समय बाद स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेंगी।

लम्बे समय तक आम भर्ती और सैनिक तैयारी के बावजूद जर्मनी अपनी पराजय नहीं रोक पाया। यह देख लेने के बाद भी ब्रिटेन ने द्वितीय महायुद्ध के बाद शान्ति-काल में चलनेवाली अनिवार्य सैनिक भर्ती को जारी रखने और सैनिक तैयारी पर भारी रकम व्यय करने का निश्चय किया। १९५५ में केन्द्रीय सरकार और स्थानीय अधिकरणों (Local anthorities) द्वारा किये गये कुल ५,४३,६० लाख पौंड में १,५७,६० लाख पौण्ड सैनिक प्रतिरक्षा और ३०० करोड़ नागरिक प्रति-

रक्षा पर व्यय किया गया।* इसकी तुलना में पुलिस पर ८६० लाख पौण्ड और आग बुझाने की सेवाओं पर २२० लाख पौण्ड खर्च हुआ, जब कि विश्वविद्यालय-स्तर पर विज्ञान और यन्त्र-विज्ञान पर, जिसमें मूलभूत अनुसन्धान भी है, केवल दो करोड़ पौण्ड रकम खर्च की गयी।

ब्रिटेन में इस समय प्रतिवर्ष ५२०० वैज्ञानिक, २८०० ग्रेजुएट यंत्रविद् और ६००० प्राविधिज्ञ तैयार होते हैं। हमसे चारगुनी जनसंख्या के देश रूस में हर वर्ष तैयार होनेवाले वैज्ञानिकों, ग्रेजुएट इंजीनियरों और प्राविधिज्ञों की संख्या हमारी तुलना में क्रमशः १० गुनी, १८ गुनी और ९ गुनी होती है। वे बड़े भाग्यशाली हैं! उनका देश विकास करना चाहता है, उनका जीवन-स्तर अब भी पश्चिमी यूरोप के जीवन-स्तर पर नहीं पहुँचा है। यदि युद्ध के लिए होनेवाली तैयारी के भारी बोझ से मुक्त हो सकें, तो कोई कारण नहीं कि वे पश्चिमी यूरोप की बराबरी पर क्यों न आ जायँ। लेकिन अभी तक वे सामरिक तैयारी के बोझ से मुक्त नहीं हुए हैं, उस मुक्ति से अभी वे कोसों दूर हैं।

जैसे-जैसे ब्रिटेन के राष्ट्रीय साधन उपयोग होने से घटते जा रहे हैं और प्राविधिक क्षेत्र में दूसरे देश उससे आगे बढ़ते जा रहे हैं, वैसे-वैसे आधुनिक विश्व में ब्रिटेन का दर्जा गिरता जा रहा है। वह अब भी किसी अर्थ में कमजोर नहीं है, फिर भी अब उसकी वह जवानी नहीं रह गयी है। अब उसे ऐसी अवस्था का अधेड़ कहा जा सकता है, जिसमें संयम आ जाता है और आदर्श की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। जब पुरुष की चढ़ती हुई जवानी की शक्ति नहीं रह जाती और स्त्री में यौवन-काल में चरम बिन्दु पर पहुँचा हुआ आकर्षण नहीं रह जाता, तब वे यदि बुद्धिमान् और सही रास्ते पर न

* १९५६ का राष्ट्रीय आय एवं व्यय। १९५१, ५२, ५३ और ५४ में नागरिक प्रतिरक्षा पर क्रमशः १३६० लाख, ९८० लाख, ७८० लाख और ७८० लाख पौण्ड व्यय हुआ था।

रहें, तो वे अपने प्रति प्रशंसा ही नहीं, अपने समकालिकों का समादर भी खो देते हैं।

विवेकपूर्ण आत्म-स्वार्थ की दृष्टि से ही देखा जाय, तो भी प्रथम से द्वितीय श्रेणी की शक्ति बनते जा रहे हमारे जैसे देश की यह निहायत बेवकूफी होगी कि वह शक्ति और स्वतंत्रता प्राप्त कर रहे देशों के समक्ष अपने गलत व्यवहार से बुरा आदर्श प्रस्तुत करे।

आदर्श की दृष्टि से हमारा यह कार्य बहुत अबुद्धिमत्तापूर्ण और बुरा है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर इतना कम और सामरिक तैयारी पर इतना अधिक व्यय कर रहे हैं। क्या हम चाहते हैं कि प्राविधिक दृष्टि से उन्नत हो रहे देश यही करें ? हमने क्षेत्रीय समझौतों को प्रश्रय दिया है, जो राष्ट्रसंघीय घोषणापत्र की मंशा के अनुकूल नहीं है। क्या हम चाहते हैं कि ऐसे ही प्रतिरक्षा समझौते हमारे विरुद्ध भी किये जायँ ? हमने अधिकांश जनता की इच्छा के विरुद्ध जर्मनी का पुनर्शस्त्रीकरण किया। अब तो वहाँ पुनर्शस्त्रीकरण के विरोधियों की संख्या घट रही है। ११ जून १९५४ के 'यू० एस० न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट' में निजी तौर पर संग्रह किये गये जनमत का एक विवरण प्रकाशित किया गया है, जिसके अनुसार १९५३ में १६ से २५ वर्ष तक की अवस्था के केवल ४८ प्रतिशत युवक बिना शर्त सेना में काम करने के लिए तैयार थे। १९५४ में यह संख्या बढ़कर ६३ प्रतिशत हो गयी। लेकिन देश में सब मिलाकर अब भी ४९ प्रतिशत लोग युद्ध के विरुद्ध थे। आम भर्ती के प्रति जर्मन जनता का विरोध अब भी बहुत अधिक प्रतीत होता है। एमनिड इन्स्टीच्यूट (जर्मनी की गैलप पोल लेनेवाली संस्था) ने २७ अगस्त १९५६ को एक वक्तव्य दिया था, जिसके अनुसार ६५ वर्ष तक की अवस्था के करीब ६५ प्रतिशत लोग इसके विरुद्ध हैं। आम भर्ती की विरोधी स्त्रियों की संख्या तो ७४ प्रतिशत है। एक जर्मन क्वेकर ने लिखा है : "पुनर्सैन्यीकरण को जनता में बहुत नापसन्द किया जाता है।

पश्चिमी शक्तियों द्वारा समर्थित इस नीति को आगे बढ़ाने की नीति जर्मनी के पुनर्वासन के विरुद्ध बहुत गम्भीर अपराध होगी।"

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में जब भी संकट आता है, तब हम ब्रिटेन-वासी सैनिक तरीके से उसका सामना करना चाहते हैं, वार्ता करके समस्या को सुलझाने का स्थान हमारे विचार में गौण रहता है। क्या हम चाहते हैं कि हमसे अधिक मजबूत हो जाने पर दूसरे राष्ट्र भी यही करें ?

एक सबसे बड़ी बेवकूफी की बात हमने यह की कि अपने गौरव का प्रदर्शन करने के लिए हमने उद्जन बम बना लेने और उसका परीक्षण करने की जरूरत समझी। क्या हम वह दिन देखना चाहते हैं, जब आगे चलकर प्राविधिक दृष्टि से उन्नत होनेवाले सभी नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र भी अपनी शक्ति दिखाने के लिए उद्जन बम बना लें ? क्या हम यही सब चाहते हैं ? ऐसा होने पर क्या विश्व में अधिक सुरक्षा रहेगी, क्या तब विश्व में अधिक विवेक रहेगा ?

पारमाणविक और उद्जन अस्त्रों के व्यापक निर्माण से मैं एक वैज्ञानिक होने के नाते बहुत आतंकित हूँ। यह ऐसी चीज नहीं है, जिसमें जनता की रुचि हो। अधिकांश लोग इन अस्त्रों से ऊब गये हैं। ये लोग राजनीतिज्ञों की इस बात पर विश्वास कर लेते हैं कि उद्जन बम के कारण युद्ध की सम्भावना समाप्त हो गयी है, हालाँकि यही राजनीतिज्ञ स्वेज नहर विवाद का हल करने के लिए सैनिक अभियान का आदेश देते हैं। शक्ति के साथ वार्ता करने की नीति घातक रूप से अनैतिक है। सामान्य जीवन में हम किसी व्यक्ति का सम्मान उसकी शक्ति और अहंकार के कारण नहीं करते। वास्तव में अनेक बड़े लोगों की पत्नियाँ बहुत साधारण होती हैं, फिर भी वे उन्हें वश में रखती हैं। नैतिक शक्ति और नीतिपरायण नेतृत्व भी संसार में हैं, जो इस बात पर निर्भर नहीं करते कि आपके पास विनाशकारी शस्त्र हैं।

विस्फोट, अग्निकाण्ड और विकिरण की बात से घबड़ाहट अनुभव करनेवाले व्यक्ति के प्रति मैं सहानुभूति प्रकट कर सकती हूँ। फिर भी मेरा विश्वास है कि भावुकतापूर्ण और आसान समाधानों की लहर में न बह-कर समुचित निर्णय कर सकने के लिए किसी भी जिम्मेदार नागरिक को तथ्यों को समझना और उचित बनाना चाहिए।

किरण-सक्रिय रद्दी पदार्थों के फेंके जाने के सम्बन्ध में मैंने पिछले अध्याय में बहुत काफी लिखा है। न्यैष्टिक (पारमाणविक एवं उद्जन) अस्त्रों के विषय में क्या बात है, हम इस पर भी विचार कर लें।

परमाणु बम ऐसा अस्त्र है, जिसका आधार भारी अणुओं का न्यैष्टिक विघटन है। प्रकाश, उष्णता और धड़ाके के रूप में मुक्त शक्ति से होनेवाली क्षति विस्फोट की स्थितियों पर निर्भर करती है। विस्फोट भूमि से ऊपर हो सकता है, भूमि पर हो सकता है या पानी में हो सकता है। अन्तिम दो स्थितियों में मिट्टी और पानी के अनेक किरण-सक्रिय अंश, जो विघटनीय तत्त्वों से दूषित रहते हैं, व्यापक रूप से फैल जाते हैं। इनमें कुछ अपेक्षा-कृत हानिरहित और कुछ बहुत ही खतरनाक होते हैं।

इन अस्त्रों के परीक्षण उपर्युक्त किन्हीं भी स्थितियों में ऊँचे 'टावर' से, मानव के रहने के स्थान से अति दूर बहुत ऊँचाई पर वायुमण्डल में किये जा सकते हैं। इन अस्त्रों का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है या प्रजनन-शक्ति पर ऐसे परीक्षण का क्या परिणाम होता है, यह जानने के लिए पशुओं और दूसरे जीवित प्राणियों को जान-बूझकर विस्फोट से प्रभावित क्षेत्र में रखा जाता है। पक्षी, मछलियाँ या कोई भी दूसरे प्राणी इससे मर जायँगे, जख्मी होंगे या उनमें किरण-सक्रियता के दोष आ जायेंगे।

परीक्षणात्मक विस्फोटों से मानव के लिए मुख्य खतरा धूलिपात से है। इससे धीरे-धीरे पूरे संसार में किरण-सक्रिय तत्त्व जमा हो जायँगे। बम इन तत्त्वों को हवा में बहुत ऊँचाई पर पहुँचा देता है और वायुमण्डल की ऊपरी सतह का पवन उन्हें बहुत दूरी तक फैला दे सकता है। लेकिन

धीरे-धीरे वे भूमि पर आ जाते हैं। यह धूलिपात विस्फोट के कुछ घण्टे या कुछ दिन बाद शुरू हो जा सकता है और वर्षों जारी रह सकता है। इस सारे समय में किरण-सक्रियता समाप्त होती जाती है; कुछ परमाणुओं की किरण-सक्रियता धीरे-धीरे समाप्त होती है और कुछ की जल्दी समाप्त हो जाती है। जिन परमाणुओं में किरण-सक्रियता थोड़े समय तक रहती है, उनसे घबराने की कोई बात नहीं है, क्योंकि भूमि पर गिरने के समय तक वह किरण-सक्रियता समाप्त हो जा सकती है। इन तत्त्वों में अनेक प्रकार के अणु होते हैं, लेकिन सबसे खतरनाक है स्ट्रोण्टियम ९०।

स्ट्रोण्टियम ९० के खतरनाक होने का कारण यह है कि रासायनिक दृष्टि से यह कैलशियम की तरह होती है। इसीलिए अस्थि-तन्तु उसे ग्रहण और संचित कर लेते हैं। बच्चों की नरम हड्डी उसे विशेष रूप से ग्रहण करती है। इससे युक्त परमाणु तत्त्वों की विपुलता है और उनसे बहुत विकिरण होता है। फिर भी मानव को देखते हुए इसकी आयु बहुत लम्बी होती है। २८ वर्ष में इसकी किरण-सक्रियता केवल आधी समाप्त होती है और ५६ वर्ष बाद चौथाई रह जाती है। यदि यह स्ट्रोण्टियम ९० हड्डी में चला जाय, तो इतने समय तक शरीर के अन्दर विकिरण करता रहेगा। जिन पशुओं पर इसका परीक्षण किया गया, उनकी हड्डियों में गाँठें पड़ गयीं। हाँ, इसकी क्रिया देर से जरूर होती है।

ब्रिटेन और अमेरिका की आधिकारिक रिपोर्टों के अनुसार दोनों देशों के कुछ बच्चों के शरीर में कुछ किरण-सक्रिय स्ट्रोण्टियम पहुँच चुका है। उनके शरीर में यह स्ट्रोण्टियम सम्भवतः उन गायों के दूध से पहुँचा, जो विस्फोट के बाद किरण-सक्रिय धूलि से दूषित मैदानों में चरती थीं। सौभाग्य की बात यही समझिये कि कैलशियम और स्ट्रोण्टियम दोनों के रहने पर हड्डी केवल कैलशियम को ही ग्रहण करती है। लेकिन कैलशियम का अभाव होने पर स्ट्रोण्टियम हड्डी में अवश्य जाता है।

अभी तक बच्चों की हड्डियों में जिस परिमाण में स्ट्रोण्टियम है, वह बहुत

कम अर्थात् 'हानिरहित' समझे जानेवाले परिमाण का केवल हजारवाँ अंश है। इससे यह सम्भावना नहीं समझी जाती कि उसका कोई हानिकर प्रभाव पड़ेगा। केवल इन्हीं आधारों पर पारमाणविक अस्त्रों के परीक्षणों का विरोध करना मुश्किल होगा। इस स्थिति पर नजर रखने की जरूरत है। जो परीक्षण हो चुके हैं, उनसे धूलिपात अभी वर्षों तक होता रहेगा। अभी तक केवल अमेरिका, रूस और ब्रिटेन ने यह परीक्षण किये हैं। यदि वे अपने को नहीं रोकते, तो वे इस स्थिति में न होंगे कि भविष्य में दूसरे देशों द्वारा भी ऐसे अस्त्र बना लिये जाने पर इस तरह के परीक्षण रोकने की वकालत करें। उस समय भला वे परीक्षणों का विरोध क्यों न करेंगे !

एक बार यदि दूसरे राष्ट्रों के पास न्यैष्टिक शक्ति-केन्द्र हो गये—जो अवश्यम्भावी भी है—तो वे परमाणु बम भी बना लेंगे। परमाणु बम बनाने की प्रारम्भिक औद्योगिक प्रक्रियाएँ अर्थात् उत्खनन, शुद्धीकरण, न्यैष्टिक ईंधन की निर्मिति वस्तुतः एक ही हैं; फिर अन्तिम प्रक्रिया चाहे उद्योगों के लिए शक्ति तैयार करने की हो, चाहे अस्त्र बनाने की।

यह सत्य है कि 'काल्डर हाल' जैसे बड़े प्रतिष्ठानों में ही यह दोहरा कार्य हो सकता है, यह भी सत्य है कि इसके लिए पूँजी, प्राविधिक ज्ञान और कच्चे मालों की जरूरत पड़ेगी, तथापि मैं समझती हूँ कि इन चीजों का एकाधिकार हमारे ही हाथ में न रहेगा और यह बात हम जानते भी हैं।

लैटिन अमेरिका में पहले से ही ११ बिजलीघर चलानेवाली 'अमेरिकन एण्ड फारेन पावर कम्पनी' ने, 'फाइनेन्शियल टाइम्स' (१५ फरवरी १९५६) के अनुसार १० मेगावाट (एक मेगावाट= १० लाख वाट) शक्ति पैदा करनेवाले तीन पारमाणविक प्रतिष्ठान स्थापित करने का बीड़ा उठाया है। परमाणु से बिजली पैदा करनेवाले इन प्रतिष्ठानों में प्रत्येक की लागत १४ लाख से १८ लाख पौण्ड तक होगी।

अर्जेण्टाइना, ब्राजील और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में प्रचुर मात्रा में यूरेनियम के भण्डार हैं।

पश्चिमी जर्मनी के परमाणु शक्ति आयोग का सविधि गठन जनवरी १९५७ में हुआ। वह अपना पहला न्यैष्टिक शक्ति-प्रतिष्ठान १९६० या १९६१ तक स्थापित कर लेने की आशा करता है। यह प्रतिष्ठान सस्ती कीमत पर बिजली देगा और तब तक तीन या चार रिऐक्टर भी खरीद लेगा। पश्चिमी जर्मनी के पास यूरेनियम थोड़ी ही है। पूर्वी जर्मनी के पास प्रचुर यूरेनियम की पट्टी की शाखाएँ हैं। ड्रेसडेन के निकट एक परमाणु-भण्डार बनाया जा रहा है। रूस की सहायता और परामर्श से यूगोस्लाविया में भी एक प्रयोगात्मक रिऐक्टर बनेगा। चीन को रिऐक्टर और पारमाणविक सामग्री रूस से मिल रही है।

पुर्तगाल के पास यूरेनियम है और परमाणु शक्ति तैयार करने में उसे ब्रिटेन से सहायता मिल रही है। यही स्थिति बगदाद गुट की भी है, जिसके लिए हमने बगदाद में परमाणु शक्ति प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करना स्वीकार किया है।* रूस ने मिस्र को न्यैष्टिक सामग्री और यंत्र देने तथा प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान करने का वचन दिया है।

भारत के पास यूरेनियम का काफी भण्डार है और बहुत काफी परिमाण में निस्सारणीय थोरियम उपलब्ध है। बम्बई में उसका एक पारमाणविक रिऐक्टर भी है।

रूस ने यूराल पर्वत श्रेणी में दो न्यैष्टिक शक्ति-केन्द्र स्थापित करने की योजना बनायी है, जो संयुक्त रूप से एक हजार मेगावाट बिजली पैदा करेंगे। दूसरा केन्द्र वह मास्को के निकट बनाना चाहता है, जिससे ४०० मेगावाट बिजली मिलेगी।

---

* इराक के हट जाने से अब इस गुट का नाम मध्य सन्धि संघटन (सेण्टो) हो गया है। परमाणु शक्ति प्रशिक्षण केन्द्र अब और कहीं रहेगा। —अनुवादक

अमेरिका 'मित्र देशों' को (ब्रिटेन को छोड़कर) प्रयोगात्मक कार्यों के लिए बीस हजार किलोग्राम परमाणु शक्ति तैयार करनेवाली सामग्री दे रहा है और इसके साथ ही अपने न्यैष्टिक शक्ति-केन्द्रों की शृंखला बनानेवाला है।

इस प्रकार इस क्षेत्र में चरण आगे बढ़ रहे हैं। निस्सन्देह यह सब उचित हो सकता है, लेकिन जो बात उचित नहीं है, वह है बड़ी शक्तियों का अपने परमाणु सम्बन्धी ज्ञान के बल पर मित्र बनाने और प्रभावित करने का तरीका। यह खेल बहुत ही खतरनाक है।

परीक्षणों को रोक देना बहुत सरल होगा। पारमाणविक विस्फोटों का स्थगन न्यैष्टिक अस्त्रों के संचय पर नियंत्रण से कहीं अधिक आसान है। १९५६ के प्रारम्भ तक कुल ६७ परीक्षण हुए थे, जो यह संकेत करते हैं कि जमा किये गये परमाणु और उद्जन बमों की संख्या लाखों में होगी। एलिस बर्कलैण्ड* के अनुसार इस समय विश्व में ०·२८ प्रतिशत यूरेनियम युक्त कच्चे यूरेनियम पदार्थ का उत्पादन प्रतिवर्ष ३ करोड़ ४० लाख टन होता है। इससे कम की यूरेनियम तो अगाध परिमाण में सुलभ है।

किसी खनिज में यूरेनियम होने का पता इस बात से चलता है कि उसमें से विकिरण होता रहता है। यह पता गाइगर काउण्टर नामक एक यंत्र से लगाया जाता है। उनका पता इसलिए लगा लिया जा सकता है कि उपयोगी पट्टी में यूरेनियम का परिमाण काफी होता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि किसी परमाणु बम या बमों के संग्रह का भी दूर से विमान जैसी किसी चीज से पता चल सकता है। पारमाणविक अस्त्रों का भण्डार यदि अच्छी तरह सील किया हुआ हो, तो उससे कोई खास विकिरण नहीं होता। हवाई जहाज से केवल प्रतिष्ठानों, बड़े कारखानों और सम्भवतः खदानों तथा सेना के जमाव, हवाई अड्डों, मार्गों, रेलवे लाइनों और बन्दरगाहों को ही देखा जा सकता है।

* इण्टरनेशनल एटामिक पॉलिसी : जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९५६।

यदि न्यैष्टिक रिऐक्टरों की स्थिति मालूम हो, तो शक्ति उत्पन्न करनेवाले प्रतिष्ठानों में ईंधन के रूप में प्रयोग करने के बजाय पारमाणविक सामग्री को न्यैष्टिक अस्त्रों के निर्माण में लगाने से रोकने के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण की आवश्यकता न रहेगी। विभिन्न देशों के न्यैष्टिक प्रतिष्ठानों के स्टाफ में भिन्न-भिन्न देशों के वैज्ञानिक एवं यंत्रविद् रखने से इस उद्देश्य की पूर्ति ज्यादा अच्छी तरह से हो जा सकती है। भिन्न-भिन्न देशों के वैज्ञानिक प्रयोगशाला में बहुत जल्दी आपस में घुल-मिल जाते हैं। मेरी अपनी प्रयोगशाला में ही १६ राष्ट्रों के स्त्री-पुरुष थे। जिस देश में ये वैज्ञानिक काम कर रहे हों, यदि सच्चे विश्वास से वे वस्तुतः नौकरी में रख लिये जायँ, तो वे इन्स्पेक्टर या गुप्तचर जैसा न सोचेंगे (इस तरह की स्थिति किसी भी वैज्ञानिक को पसन्द भी न आयेगी)।

छोटे राज्यों के युद्ध-पिपासु शासक पारमाणविक अस्त्र न बना सकें, इसके लिए एक दूसरा उपाय यह सुझाया जाता है कि उन्हें परमाणुशक्ति तैयार करनेवाले जो पदार्थ दिये जायँ या उनके यहाँ बाहर से आयें, उन्हें 'स्वधर्म विकृत' अर्थात् तरल कर दिया जाय, ताकि बिजली उत्पन्न करने में तो उनका उपयोग हो सके, लेकिन उनसे विस्फोटक अस्त्र न बन सकें। किन्तु शक्ति उत्पादक प्रतिष्ठान स्वयं धीरे-धीरे प्लूटोनियम बनाता है, जो 'स्वधर्म-विकृत' न होगा और पारमाणविक अस्त्रों के निर्माण में प्रयुक्त हो सकेगा। प्लूटोनियम के गौणफल (by product) से हम भी यही कर रहे हैं। कुछ छोटे राज्यों के पास यूरेनियम का अपना ही अगाध भण्डार है।

पारमाणविक अस्त्रों के परीक्षणों पर यदि अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके रोक लगा दी जाय, तो जिन देशों के पास पारमाणविक अस्त्र हैं, उनके अलावा दूसरे देशों का पारमाणविक अस्त्र बनाना रुक जाय। वे परमाणु अस्त्रों का निर्माण इसलिए न कर पायेंगे कि उन्हें परीक्षण तो करने ही पड़ेंगे और परीक्षण कहीं भी हों, शेष संसार से छिपे न रह सकेंगे। उनका और

उनके परीक्षण-स्थल का पता उसी तरह से चल जायगा, जिस प्रकार भूकम्प का पता चल जाता है।

हम ब्रिटेनवासी ऐसे प्रतिबन्ध का जो समर्थन नहीं करते और केवल यही कहते हैं कि यह निरस्त्रीकरण का एक अंग जैसा हो सकता है, उसका कारण यह है कि हम स्वयं उद्जन बम का परीक्षण करनेवाले हैं और यह परीक्षण शायद शीघ्र ही होगा।* मार्शल द्वीप के विक्षुब्ध निवासियों ने पारमाणविक परीक्षणों पर रोक लगाने के लिए जब राष्ट्रसंघ की संरक्षण परिषद् को प्रार्थनापत्र दिया, तो प्रतिबन्ध के पक्ष में केवल रूस, भारत, बर्मा और सीरिया ने ही वोट दिया। ब्रिटेन तथा आठ अन्य राष्ट्रों ने उसका यह कहकर विरोध किया कि "विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा के लिए और भी पारमाणविक परीक्षण होने जरूरी हैं।"

क्या आप अपने को उस समय सुरक्षित अनुभव करेंगे, जब सभी राष्ट्रों के पास पारमाणविक तथा उद्जन अस्त्र हो जायँ ! ● ● ●

---

* ब्रिटेन ने यह परीक्षण सफलतापूर्वक कर लिया है। —अनुवादक

छठा अध्याय

ब्रिटेन जिस बम का निर्माण और परीक्षण करना चाहता है, वह फिसन-फुजन-फिसन (वियोजन-संयोजन-वियोजन) बम होगा, जिसे 'रिग्ड' बम कहा जाता है और जो अब तक तैयार बमों में सबसे अधिक खतरनाक होता है।*

इस बम को विस्फोट की स्थिति में लाने या 'दागने' के लिए भीतर एक परमाणु बम और बाहर साधारण यूरेनियम २३८ का एक 'शेल' रहता है। विस्फोटक पदार्थ मुख्यतः उद्जन होता है। यह उद्जन साधारण कोटि का नहीं, प्रबल दबाव के उद्जन के भारी आइसोटोपों का मिश्रण होता है और इसे लिथियम ६ ड्यूराइट उद्वेलित करता है।

इस विस्फोटक मिश्रण की प्रक्रिया वियोजन या विघटन नहीं, बल्कि संयोजन अर्थात् बड़ा परमाणु बनाने के लिए लघु परमाणुओं का संश्लेषण होता है। समझा जाता है कि सूर्य से उष्णता, प्रकाश और दूसरे विकिरण का स्रोत यही प्रक्रिया है। यह संश्लेषण या फुजन प्रक्रिया बहुत अधिक ताप की स्थिति में ही हो सकती है, इसीलिए इसे उत्तप्त करने के लिए फिसन (परमाणु) बम का उपयोग करना पड़ता है। इसके साथ ही यह ऐसे उच्च शक्तीय न्यूट्रन पैदा करता है कि वे बम के बाहर लगे यूरेनियम २३८ के शेल का पूर्ण रूप से 'फिसन' कर देते हैं।

परमाणु बम एक अधिकतम आकार से बड़ा नहीं बनाया जा सकता, किन्तु उद्जन बम को (चाहे वह दूसरे के सहारे फूटनेवाला हो या नहीं) ले जाने और छोड़ने की सामर्थ्य के अनुसार कितना भी बड़ा बनाया जा सकता है। अमेरिकी हवाई बेड़े ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि वह

---

* पुस्तक लिखे जाने के बाद यह परीक्षण हो गया है।

बी० ३६ बमवर्षक विमान में एक पारमाणविक रिऐक्टर (विमान-संचालन के लिए नहीं, बल्कि प्रयोगात्मक कार्यों के लिए) उड़ा चुका है।* इसका मतलब यह हुआ कि ऐसे बम का आकार वस्तुतः बहुत बड़ा हो सकता है। २० मिगेटन के फिसन-फुजन-फिसन बम का, जिसकी विस्फोटक शक्ति दो करोड़ टन 'ब्लाक बस्टर' होती है, परीक्षण हो चुका है। इसकी शक्ति, इसका प्रभाव इसे बनानेवाले वैज्ञानिकों की आशा से कहीं अधिक निकला। लेकिन यह बम अधिकतम आकार का नहीं था। इससे बड़ा बम बनाना भी सम्भव है।

फुजन प्रक्रिया उष्णता, प्रकाश, धड़ाका और प्रत्यक्ष विकिरण के रूप में भारी परिमाण में शक्ति उत्पन्न करती है। २० मिगेटन का एक बम केवल अपनी उष्णता और विस्फोट गत बर्बादी से गिरने के केन्द्र से पाँच से दस मील तक के घेरे में सारे प्राणियों को मार देगा।

लेकिन फुजन प्रक्रिया में वह किरण-सक्रिय फिसन तत्त्व नहीं होता, जो धूलि के रूप में गिरता है। फिर भी मिले-जुले फिसन-फुजन-फिसन बम से बहुत अधिक परिमाण में किरण-सक्रिय धूलिपात होगा, जिसका कारण वह यूरेनियम है, जो इसमें मिली होती है या जो बाह्य 'शेल' में रहती है। १ मार्च १९५४ को जिस उद्जन बम का परीक्षण हुआ, उससे ७ हजार वर्गमील से अधिक क्षेत्र में भारी परिमाण में किरण-सक्रिय धूलि गिरी। उस क्षेत्र में जो भी व्यक्ति तुरत मकान में न चला जाता और अन्दर न रुका रहता, वह मर सकता था। लेकिन उसकी मृत्यु तुरन्त न होती। उसके प्राण निकलने में कुछ वर्ष लगते। ऐसे विस्फोट के बाद सिगार के आकार में धूलिपात होता और उस क्षेत्र को विकिरण प्रभावित करता है। धूलिपात उस दिशा में होता है, जिधर हवा का रुख हो। हवा किधर जायगी, यह उस समय के रुख से मालूम होता है। किन्तु यदि हवा की दिशा बदल

---

* देखिये, 'टाइम्स', १० जनवरी, १९५६।

गयी, तो घातक धूलिपात और कहीं होगा। उद्‌जन बम के परीक्षण के आठ घण्टे बाद १६० मील की दूरी पर धूलिपात शुरू हुआ और ३६ घण्टे के भीतर जितने परिमाण में किरण-सक्रिय धूलि गिरी, वह पाँच सौ 'रोण्टजेन' था, जो तत्काल संहार करने में समर्थ मात्रा से अधिक है। यह धूलिपात होता ही चला गया। विस्फोट-स्थल के निकट तो धूलिपात और भी जल्दी आरम्भ हो जाता और अधिक परिमाण में होता।

उद्‌जन बम-विस्फोटोत्तर धूलिपात में असावधानी के कारण जो जापानी मछुए आक्रान्त हुए और बाद में जिनमें से एक मछुए की मृत्यु हो गयी, यदि वे समुद्र से न घिरे होते, तो सबके-सब मर जाते। समुद्र ने अधिकांश किरण-सक्रिय धूलि को आत्मसात् कर लिया, इसलिए जापानी मछुओं पर उसी धूलि का प्रभाव पड़ा, जो उनके शरीर और जहाज पर गिरी। यदि उन्होंने तुरन्त अपने कपड़े उतार डाले होते और धूलि धो दी होती, तो शायद उनका चमड़ा न जलता, लेकिन विकिरणगत व्याधि से वे नहीं बच सकते थे।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि ७ हजार वर्गमील की संख्या सीमित नहीं है। धूलिपात इससे भी अधिक दूर तक के क्षेत्र में होगा, देर से होगा और शायद पूर्णतः अर्धघातक होगा। इसके साथ ही इससे व्याधियाँ होंगी और शायद प्रजनन-शक्ति भी नष्ट हो जायगी या फिर बाद में आनेवाली पीढ़ियों की प्रजनन-शक्ति पर इसका प्रभाव पड़ेगा और विस्फोट के समय रहनेवाले लोगों को आगे चलकर ल्यूकेमिया, कैंसर और रक्ताल्पता की बीमारी होगी।

१९५६ के प्रारम्भ में प्रतिरक्षा मंत्री ने एक नयी योजना घोषित की, जिसमें कहा गया था कि विश्वव्यापी युद्ध में ब्रिटेन के जो क्षेत्र प्रभावित हो सकते हैं, उनके १ करोड़ २० लाख निवासियों को हटाकर अन्यत्र ले जाया जायगा। एक सप्ताह बाद डेली टेलीग्राफ में सम्पादक के नाम पत्र-वाले स्तम्भ में बताया गया था कि यदि १२ समान केन्द्रों से हटने का

काम प्रारम्भ हो, और हर दस मिनट पर एक हजार व्यक्ति हटें, तो इस काम के पूरा होने में एक सप्ताह लगेगा।

वैज्ञानिक, खासकर अमेरिका में, विश्वव्यापी युद्ध के प्रभाव पर विचार करने के लिए काफी समय से दबाव डालते रहे हैं, लेकिन लोगों के हटाये जाने की व्यावहारिकता पर उनमें एकमत नहीं रहा है। यह बात जोरदार तर्क के साथ कही जा सकती है कि उद्‌जन बम गिरने की सम्भावना समझ-कर ब्रिटेन में जनता को शहरों से देहात में ले जाना 'पेड़ पर छिपने का खेल' की तरह होगा।

शान्तिवादियों पर कभी-कभी आरोप किया जाता है कि वे यथार्थवादी नहीं होते। ठीक है, हमें यथार्थवादी होना और कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न करना चाहिए। यदि लन्दन पर एक उद्‌जन बम गिरे और ७० लाख किरण-सक्रिय शव आपके चारों ओर या देहातों तक बिखरे पड़े हों, उन शवों में वह स्ट्रोण्टियम ९० तत्त्व हो, जो आप और आपके बच्चे की हड्डियों में जायगा, और उत्तरोत्तर कम परिमाण में किन्तु बराबर किरण-सक्रिय धूलिपात हो रहा हो, तो उस स्थिति में आप भागकर कहाँ जायेंगे ? क्या आप भूमि के छोर पर चले जायेंगे ? क्या आप पाताल-लोक में पहुँच जायँगे ? ब्रिटेन के शेष पाँच करोड़ लोग कहाँ जायँगे ? दूसरा बम क्या ग्लासगो पर गिरेगा या लिवरपूल पर गिरेगा या उन सुन्दर गाँवों पर गिरेगा, जिनके निकट ब्रिटेन के परमाणु तथा उद्‌जन अस्त्र जमा किये गये हैं या जहाँ से बाहर भेजे जानेवाले हैं ? क्या सभी लोग जमीन में गहराई में शरण लेकर रह सकते हैं ?

मैं कोई अजीब या कटु बात नहीं कह रही हूँ। नोबुल पुरस्कार से सम्मानित और प्रजनन-विज्ञान के अधिकारी विद्वान् डॉक्टर एच० जे० मूलर ने कहा है कि सारे समय कस्बों में मकानों के तहखानों में रहनेवाले जिन लोगों के पास बाहर से हवा भी न पहुँच सके, उन पर भी १ मार्च १९५४ जैसे उद्‌जन बम के विस्फोट-स्थल से ११० मील तक, हवा की दिशा में पड़ने

पर, धूलिपात के केवल प्रथम सप्ताह में ही, एक सौ रोण्टेजन विकिरण होगा। यदि वे बन्द तहखाने में न हों, तो उन पर इसका १० गुना तक कुप्रभाव होगा। डॉक्टर मूलर ने यह भी कहा है कि गर्भस्थ बच्चे के शरीर में यदि ५० से १०० रोण्टेजन तक भी पहुँच जाय, तो उसका मस्तिष्क हमेशा के लिए असामान्य हो जायगा, जिससे उसकी बुद्धि उसी तरह सामान्य न रहेगी, जिस तरह परमाणु बम गिरने के कई मास बाद हिरोशिमा में उत्पन्न बच्चों की बुद्धि सामान्य नहीं थी। तीस वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति यदि धीरे-धीरे एक हजार रोण्टेजन मात्रा शरीर में आ जाने पर भी बच जाय, तो वह शायद १० वर्ष में मर जायगा।

यदि हम विश्वव्यापी युद्ध की बात सोचते हैं, तो उसका मतलब पूर्ण संहार और आत्म-हत्या की बात सोचना है। ऐसी कोई भी नागरिक प्रतिरक्षा-व्यवस्था, जो इस बात की अवहेलना करे, राष्ट्र की आत्म-वंचना ही है और वह राष्ट्र वस्तुस्थिति का सामना नहीं करना चाहता।

जिस नागरिक प्रतिरक्षा पर हम वैज्ञानिकों और इन्जीनियरों के प्रशिक्षण पर होनेवाले व्यय का तीन गुना खर्च कर रहे हैं, वह १९३८ के बाद कम-से-कम तीन बार विफल हो चुकी हैं। उस वर्ष (१९३८ में) यह खयाल जोरों पर था कि आनेवाले युद्ध में गैस का प्रयोग होगा। लेकिन गैस का प्रयोग नहीं हुआ और उसके प्रयोग न किये जाने का कारण यह नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति को गैस से रक्षा का मुखावरण (गैस मास्क) मिला था या युद्ध में गैस का प्रयोग न करने का समझौता हो चुका था, और न यही कारण था कि गैस का प्रयोग किये जाने पर आक्रान्त राष्ट्र भी जवाब में गैस का प्रयोग करेगा, बल्कि गैस का प्रयोग इसलिए नहीं हुआ कि अब वह लड़ाई का बहुत तुच्छ अस्त्र रह गया था। गैस के बल पर कोई भी पक्ष युद्ध में विजयी नहीं हो सकता था। काफी समय तक 'शाब्दिक युद्ध' होता रहा और शरणार्थी धीरे-धीरे लौट रहे थे। उसके बाद अन्धाधुन्ध बम-वर्षा हुई और आतंक फैल गया।

मैं लन्दन के पश्चिमी छोर पर रहती थी, जो अपेक्षाकृत शान्त था। अधिकांश शरणार्थी पूर्व से आये और वे पनाह, पूरे परिवार के लिए रहने का स्थान तथा खाद्य पदार्थ चाहते थे। नागरिक प्रतिरक्षा अधिकारियों ने इसके लिए कोई तैयारी नहीं की थी। नागरिक प्रतिरक्षा संगठन से स्वतंत्र हमारे क्वेकर सभा-भवन ने शरणार्थियों के लिए अपने दरवाजे खोल दिये। उन्हें कम्बल, चारपाइयाँ, फल दिये और सामुदायिक भोजन कराया। जो लोग मकान चाहते थे, हमने उन्हें मकान पाने में सहायता दी। फिर नागरिक प्रतिरक्षा संगठन ने इस काम को अपने हाथ में लिया। १९४५ तक उसने बमवर्षा से लगनेवाली आग का सामना करने के लिए बहुत सक्षम प्रक्रिया तैयार कर ली। अस्पतालों में उपचार के लिए हमेशा तैयारी रहती थी और नर्सें तथा डॉक्टर बराबर स्थिति का सामना करने की स्थिति में प्रस्तुत रहते थे। ऐसा ही जापानियों ने किया।

लेकिन हिरोशिमा पर गिरनेवाले पहले ही परमाणु बम ने लेशमात्र में नागरिक प्रतिरक्षा की सारी व्यवस्थाओं को बेकार कर दिया। अधिकांश डॉक्टरों, नर्सों और आग बुझानेवालों को मृत या अंग-भंग कर दिया। अस्पतालों तथा आग बुझाने के केन्द्रों को मिट्टी में मिला दिया और एक नयी आफत—किरण-सक्रियता—लाकर खड़ी कर दी।

इस स्थिति को समझने और इसका सामना करने की कार्रवाइयाँ की जाते देर नहीं हुई कि उद्जन बम के आविष्कार ने समस्या को और भी भयानक रूप से बढ़ा दिया। यह सीधा-सादा उद्जन बम था, फिसन-फुजन-फिसन बम नहीं। यह सीधा-सादा उद्जन बम भी कितना घातक है, इसका पता इस बात से चल सकता है कि परमाणु बम के विस्फोट से जितना बड़ा क्षेत्र आक्रान्त होता है, यह उससे भी दो सौ वर्गमील अधिक क्षेत्र को आक्रान्त करता है और इस क्षेत्र में इसका प्रभाव ऐसा होता है कि इसकी आग से सभी शव, जिन्हें गाड़ सकने की सेना में सामर्थ्य नहीं है,

जलकर स्वाहा हो जायँगे। इसके बाद अब फिसन-फुजन-फिसन बम ने और भी विकट समस्या उत्पन्न कर दी है।

ऐसे बम के फूटने से जो लपटें उठेंगी, वे ५० मील तक दिखायी पड़ेंगी और विध्वंसकारी लहर पहुँचने के पहले बहुत जल्दी पनाह लेने का समय मिल जायगा। उसके बाद किरण-सक्रिय धूलिपात होगा और फलस्वरूप कई हजार मील का क्षेत्र महीनों तक रहने लायक न रह जायगा। लोग इस क्षेत्र से भाग सकते हैं, लेकिन यदि इस क्षेत्र में वे रहेंगे, तो मौत के मुँह में चले जायँगे।

'If seven maids with seven mops
Swept it for half a year
Do you suppose' the Walrus said,
'That they could get it clear ?'
'I doubt it 'said the Carpenter,
And shed a bitter tear.

अर्थात्

'दासी सात, सात झाड़ू से
आधे साल अगर झाड़ू दें
तो क्या इसे साफ कर देंगी ?'
प्रश्न किया बिलाव ने
बोला बढ़ई, 'मुझको इसमें शक है'
और आँखों से हृदयविदारक अश्रु बह चला।

ब्रिटेन में यदि एक दर्जन ऐसे बम जगह-जगह छोड़ दिये जायँ, तो कहीं पर भी रह सकना सम्भव न रह जायगा। चरागाह किरण-सक्रिय हो जायँगे, हरे भरे फल-फूल, शाक-सब्जियाँ किरण-सक्रिय हो जायँगी, गाय का दूध किरण-सक्रिय हो जायगा, मकान किरण-सक्रिय हो जायँगे।

इस स्थिति को देखते हुए नागरिक प्रतिरक्षा पर लाखों पौण्ड खर्च

करना कितनी भयानक मूर्खता है? इस प्रतिरक्षा से क्या होगा, यह सोचकर अचरज होता है। हम इसे समझ लें तभी हमें अक्ल आयेगी।,

वस्तुस्थिति यह है कि न्यैष्ठिक युद्ध सभ्यता का विनाश कर देगा, १० करोड़ व्यक्तियों की जान ले लेगा। आगे आनेवाली पीढ़ियों को विकलांग और विकृत बना देगा और जिन समस्याओं को लेकर युद्ध होगा, उनमें से एक भी समस्या को हल न करेगा।

मैं समझती हूँ कि आप इस पर कहेंगे : "हाँ-हाँ, आपका यह कहना ठीक है, किन्तु आप शान्त रहें। हम यह सब समझते हैं। इसीलिए तो हमें इन अस्त्रों को रखना जरूरी है। यदि एक-दूसरे को जवाब दिया जा सके, तो कोई भी इन अस्त्रों का प्रयोग न करेगा। किसीको ऐसा करने का साहस ही न होगा।

क्या हम नागरिक प्रतिरक्षा पर इसीलिए तीन करोड़ पौण्ड खर्च कर रहे हैं? क्या हम ऐसे युद्ध के लिए तैयारी कर रहे हैं जो होने नहीं जा रहा है?

आप कहेंगे : "नहीं-नहीं, हम यह नहीं सोच सकते कि अब कोई युद्ध न होगा। लेकिन यदि सभी के पास उद्‌जन बम हैं, तो कोई भी उनका प्रयोग न करेगा। जिस तरह का युद्ध हो सकता है, हमें उस तरह के युद्ध का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए, इसीलिए नागरिक प्रतिरक्षा व्यवस्था अपरिहार्य है।"

●●●

सातवाँ अध्याय

मैंने जो प्रश्न छेड़ा है, उसमें पहली बात यह है कि व्यवहारवादी दृष्टि से, यथार्थवादी ढंग से विचार किया जाय। उस स्थिति में मैं समझती हूँ कि निम्नलिखित प्रकार के युद्ध ही हो सकते हैं :

१. विश्वव्यापी युद्ध, जो सभी सुलभ अस्त्रों से किया जाय।

२. विश्वव्यापी युद्ध, जो सीमित अस्त्रों से किया जाय।

३. छोटे-छोटे युद्ध, जो छोटे पारमाणविक अस्त्रों से किये जायँ।

४. छोटे-छोटे युद्ध, जो बिना पारमाणविक अस्त्रों के किये जायँ।

यह सभी मानते हैं कि प्रथम प्रकार का विश्वयुद्ध हत्या और आत्म-हत्या दोनों है और वैसे युद्ध का विचार भी नहीं किया जा सकता। फिर भी बड़ी शक्तियाँ उद्‌जन बमों के परीक्षणों और सैनिक खर्च को देखते हुए सम्प्रति उसीके लिए तैयारी कर रही हैं। इसकी क्या सीमा हो, इस सम्बन्ध में उनमें अभी किसी भी बात का समझौता नहीं हो सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण और निरीक्षण के सम्बन्ध में कूटनीतिक और वैज्ञानिक दोनों तरह के विचार बहुत अधिक किये गये हैं, ताकि निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर समझौता हो जाय, तो उसकी निगरानी की जा सके। ऐसा हो जाने पर भी दूसरे प्रकार के युद्ध, अर्थात् सीमित अस्त्रों से विश्व-व्यापी युद्ध की सम्भावना कायम रहती है। यह युद्ध भयावना है, लेकिन इससे वह भय नहीं उत्पन्न होता, जो प्रथम प्रकार के युद्ध से होता है।

जो लोग यह सोचते हैं कि इस तरह के युद्ध की सम्भावना है, उनके विचारों से मैं एकदम सहमत नहीं हूँ। देखरेख, निरीक्षण और नियंत्रण (अन्तर्राष्ट्रीय स्वामित्व का प्रश्न अभी विचारणीय भी नहीं है) का उद्देश्य

शान्ति-काल में अचानक किसी प्रकार के बड़े हमले को रोकना होगा। निश्चय ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी प्रकार का निरीक्षण प्रभावशाली होगा। इसीलिए जब तक हम एक-दूसरे पर इतना अविश्वास करते हैं कि उसके फलस्वरूप युद्ध की सम्भावना हमारे मस्तिष्क में घर किये हुए है, तब तक यह विचार करना भी सार्थक होगा कि कोई देश अपनी सच्ची नीयत का प्रदर्शन किस प्रकार अच्छी तरह कर सकता है। जैसा कि मैं पहले लिख चुकी हूँ, मेरा खयाल है कि भिन्न-भिन्न देशों के वैज्ञानिकों और इंजीनियरों को सेवा में साथ रखना इसका अच्छा तरीका होगा। बहुत दूर के क्षेत्रों में स्थापित और प्रकट न किये गये पारमाणविक प्रतिष्ठानों से यह हमें अवश्य अवगत नहीं कर सकता। इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे।

एक बात मैं बिल्कुल पक्की समझती हूँ, वह यह कि बड़े युद्धास्त्र बनाने में समर्थ देशों के बीच यदि एक बार युद्ध शुरू हो जाय, तो कोई भी उन्हें वैसा करने से विरत नहीं कर सकता। युद्धरत देशों में अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण काम नहीं कर सकेगा। विदेशियों को नजरबन्द कर लिया जायगा या वे अपने देशों को भेज दिये जायँगे। उद्जन बम ही नहीं, बल्कि व्यापक संहार करनेवाले कोई भी अस्त्र एक या दो वर्ष के भीतर बनाये जा सकते हैं। समझौते या जवाबी प्रहार के भय से कुछ समय के लिए उनका प्रयोग रुक सकता है, लेकिन यदि हम एक-दूसरे पर इस बात का सन्देह करते हैं कि वह युद्ध-घोषणा किये बिना हम पर अचानक पारमाणविक अस्त्र से प्रहार कर देगा, तो निश्चय ही यह उससे भी अधिक निश्चित है कि विश्वयुद्ध में ऐसा प्रहार हो जायगा। इस कल्पना को मैं बिल्कुल अव्यावहारिक और यथार्थता से परे मानती हूँ कि जो युद्धलिप्त राष्ट्र पहले उद्जन बम बना लेगा, वह तत्काल उस बम का प्रयोग न करेगा। एक-दूसरे के प्रति सन्देह निश्चित रूप से बहुत अधिक रहेगा। युद्धकाल में नैतिकता का स्तर बहुत निम्न होता है। हिरोशिमा पर परमाणु बम गिराये

जाने को जिस प्रकार विवेकपूर्ण बता दिया गया, उसी प्रकार उद्जन बम के गिराये जाने को और भी आसानी से यह कहकर विवेकपूर्ण बना दिया जायगा कि लड़ाई चलते रहने से होनेवाले बड़े जन-संहार को रोकने के लिए उद्जन बम गिराया गया।

जो लोग इस तर्क से सहमत हैं, वे ऐसा समझते हैं कि इससे विश्व-युद्ध हमेशा के लिए समाप्त हो जायगा और भविष्य में छोटी-मोटी लड़ाइयों की ही सम्भावना रहेगी। यदि ऐसी बात है, तो यह पागलपन जैसा लगता है कि अपना जीवन-स्तर उन्नत करने में दत्तचित्त संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का सामना करने के लिए जब हमें वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षमता के विश्व-साधनों की रक्षा करने की आवश्यकता है, उस समय हम पश्चिमवासी (इसमें हम अमेरिका और ब्रिटेन के साथ रूस को भी रखते हैं) इस वर्ष अर्थात् १९५६ में, जिसमें मैं लिख रही हूँ, ऐसे न्यैष्ठिक परीक्षणों की योजना बना रहे हैं, जिनकी शक्ति पूरे द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी पर छोड़े गये कुल टी० एन० टी० के पचास गुने के बराबर होगी।

यदि हम अस्त्रों का विकास करना अभी नहीं रोकते, तो इसे रोकने में हम कब सुरक्षा अनुभव करेंगे ? क्या बीस मिगेटन का उद्जन बम काफी बड़ा नहीं है ? परीक्षण के पक्ष में दिये गये कारणों में एक यह भी था कि प्रतिरक्षा की कारंवाई की जाँच कर ली जानी चाहिए। तो क्या हम प्रथम प्रकार के विश्वयुद्ध की सचमुच सम्भावना समझते हैं ? यदि बात ऐसी है, तो ब्रिटेन का सफाया निश्चित रूप से समझ लीजिये, क्योंकि व्यापक युद्ध में रूस और अमेरिका के तो बच जाने की कल्पना भी की जा सकती है, लेकिन ब्रिटेन तो नहीं बच सकता। यह समझना कि ब्रिटेन बच जायगा, यथार्थ से आँख मूँदना है।

कभी न कभी हमें ये परीक्षण अवश्य बन्द करने पड़ेंगे। यदि ये परीक्षण चालू रहे और दूसरे राष्ट्र भी शामिल होकर इस कार्य में तेजी लाते

रहे, तो जार्ज ओरवेल के १९८४ तक किरण-सक्रिय धूलिपात के फलस्वरूप हमारे या हमारे बच्चों के शरीर में खतरनाक तत्त्व पहुँच जायँगे और उनका परिणाम चिकित्साविदों के शब्दों में 'अधिकतम ग्राह्य मात्रा' से कहीं अधिक हो जायगा। लेकिन हमें जब परीक्षण बन्द करने की सुबुद्धि आयेगी, तब हमें दूसरे देशों को इस बात के लिए राजी करना पड़ेगा कि वे हमारी ही तरह अन्तर्राष्ट्रीय जल-क्षेत्र (समुद्र) और रेगिस्तानों को दूषित करने का अपना अधिकार भी छोड़ दें। यदि हम तीसरी सम्भावना (छोटे पारमाणविक अस्त्रों से छोटे-छोटे युद्ध) की बात सोचते हैं, तो यह काम भी कठिन होगा।

हमें हाल में बार-बार सुनने को मिला है कि पारमाणविक युद्ध अब रूढ़-युद्ध बन गया है। पारमाणविक अस्त्रों के खतम किये जाने से सीटो या नैटो की सेनाएँ पंगु हो जायँगी। भूमि-सेना के सभी विभाग इन अस्त्रों का उपयोग करेंगे और जिन राष्ट्रों के पास परमाणु बम, पारमाणविक शेल और परमाणुचालित पनडुब्बियाँ हैं, वे किसी भी भावी युद्ध में उनका उपयोग अवश्य करेंगे। बहुत-से लोगों ने कोरिया में उनका प्रयोग करने की वकालत भी की थी। यह बिलकुल ठीक कहा भी जाता है कि कोरिया या हिन्दचीन में उनका प्रयोग न किये जाने का ही परिणाम यह हुआ कि कोरिया में गत्यवरोध बना रह गया और हिन्दचीन में पश्चिमी शक्तियों की पराजय हुई।

बड़ी शक्तियाँ एक-दूसरे के विरुद्ध यदि किसी भी प्रकार के पारमाणविक अस्त्रों का प्रयोग करें, तो उससे प्रथम प्रकार का विश्वयुद्ध छिड़ जायगा। हम इस बात को सोच ही नहीं सकते कि किसी राष्ट्र पर यदि साधारण परमाणु बम गिरेंगे, तो वह जवाब में अपने शत्रु पर बड़े परमाणु बम क्यों न गिरायेगा। उसके पास या उसके मित्र राष्ट्रों के पास जो बड़े-से-बड़ा परमाणु बम होगा, उसीसे वह शत्रु को जवाब देगा। यदि हमारे

विरुद्ध छोटे परमाणु बमों का प्रयोग हुआ, तो क्या हम तुरन्त आत्मसमर्पण कर देंगे ? हमने अमेरिका को ब्रिटेन की भूमि पर अड्डे कायम करने दिये हैं, तब क्या हम अपनी मर्जी के अनुसार कोई भी रास्ता अपना सकेंगे ?

बहुत से लोग सोचते हैं कि जिन राष्ट्रों के पास जवाब देने के लिए परमाणु बम हैं, उन राष्ट्रों पर परमाणु बम का प्रहार करने से तो हम बचें, लेकिन मिस्र और जनवादी चीन की तरह के जिन देशों के पास ये अस्त्र नहीं हैं, उनके विरुद्ध इनके प्रयोग की हमें स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। यदि यही हमारी नीयत या धमकी है या हमारे द्वारा यही किये जाने का सन्देह किया जाता है, तो हमें यह बात जरूर समझ लेनी चाहिए कि समर्थ होने पर वे देश भी परमाणु बम तैयार कर लेंगे। इस कार्य में समय लगेगा, लेकिन वह समय शायद हमारे बच्चों या पौत्र-पौत्रियों के जीवनकाल से अधिक न होगा। क्या आप इससे प्रसन्नता अनुभव करते हैं ? कम-से-कम मुझको तो प्रसन्नता नहीं है।

यदि हमारी ऐसी नीयत नहीं है, तो पारमाणविक अस्त्रों का उपयोग रूढ़ अस्त्रों के रूप में करने की बात करना फरेब है। लेकिन यह बहुत ही घातक फरेब है, क्योंकि यह विश्व में भय, सन्देह और अरक्षा की भावना को बढ़ाता है, जो अपने में युद्ध के बहुत बड़े कारण हैं। मुझे यकीन नहीं होता कि जो व्यवहारवादी स्त्री-पुरुष इस तरह की रीति-नीति का समर्थन करते हैं, क्या उन्होंने कभी इसके परिणामों को भी गम्भीरतापूर्वक सोचा है ? वे राजनीतिक दृष्टि से क्या कूप-मण्डूक नहीं हैं ?

यदि मैं गलती पर नहीं हूँ, तो ऐसे लोग वस्तुतः यह आशा करते हैं कि भौतिक शक्ति का प्रदर्शन बड़ी शक्तियों को बहुत समय तक अपने विपरीत लगनेवाली आर्थिक या राजनीतिक प्रणालीविशेष (कम्युनिस्ट या पूँजीवादी) के विघटन की इच्छा पूरी करने के लिए या इंग्लैण्ड और

स्काटलैण्ड की तरह, अथवा एक सीमा तक ब्रिटेन और आयरलैण्ड की तरह, सहयोगपूर्वक न सही, तो कम-से-कम शान्तिपूर्वक एक साथ रह सकने का कोई रास्ता निकालने के उद्देश्य से एक दूसरे पर आघात करने से रोकेगा।

जो लोग ऐसा सोचते हैं, वे शेष संसार के विषय में स्वप्न की उड़ान ले रहे हैं। जब तक बड़ी शक्तियों में फूट कायम है और सौदेबाजी करने के लिए वे पूर्णतः शस्त्र-सज्जित हैं, तब तक हमेशा इस बात का खतरा है कि परस्पर या दूसरे किसी राष्ट्र के साथ अथवा दो या तीन राष्ट्रों के बीच झगड़े की स्थिति में ये बड़े राष्ट्र एक-दूसरे के विरोधी पक्षों का साथ देंगे। मैं समझती हूँ कि सबसे बड़ा खतरा राजनीतिज्ञों या उन जनरलों से है, जो तरुणावस्था में अश्वारोही सेना के अफसर थे या जिन्हें पुराने सैनिक प्रतिष्ठानों में शिक्षा मिली है और राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक समस्याओं का समाधान सबसे पहले सैनिक शक्ति से करने की बात सोचते हैं। उनके लिए पारमाणविक अस्त्र ठीक और एक साधन जैसा ही है।

अपने को पसन्द न आनेवाली राजनीतिक व्यवस्था के विघटन या रूपान्तर की प्रतीक्षा करने में बहुत लम्बा समय लग जायगा।

इस बीच में एक साफ खतरा यह है कि अपने श्रेष्ठ होने की वह भावना बनी रहेगी, जो दूसरे की राजनीतिक व्यवस्था को नापसन्द करने के साथ उन्नत होती है। इसे उचित सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन यदि यह भावना इस विचार को जन्म दे कि किसीके अपने राष्ट्र को समुचित विश्व-न्याय-व्यवस्था के अभाव में संसार के पुलिसमैन, जज और प्राणदण्ड-दाता के रूप में जिम्मेदारी निबाहने का अधिकार है, तो वह राष्ट्र सचमुच खतरनाक बन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस तरह की नैतिक श्रेष्ठता की भावना किसी राष्ट्र को इतना अन्धा बना देती है कि वह निर्दयतापूर्ण तरीके अपनाये।

बहुत से लोग मानते हैं कि पहले अमेरिका और फिर ब्रिटेन तथा राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्यों का कोरिया की लड़ाई में उतरना शान्ति एवं व्यवस्था की रक्षा के लिए ऐसी ही पुलिस कार्रवाई थी। मुझको तो इस बात में सन्देह दिखाई पड़ता है कि आगे आनेवाली अधिक सभ्य पीढ़ियाँ दोनों पक्षों को बदनाम करनेवाले इस काण्ड पर जब शान्तचित्त से दृष्टिपात करेंगी, तब उन्हें नापम (napalm) अर्थात् तरल आग फेंकनेवाली पुलिस कार्रवाई उचित प्रतीत होगी। हमने 'नापम' का प्रयोग किया और हम अपने को ईसाई राष्ट्र कहते हैं। ● ● ●

आठवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय विधान एवं व्यवस्था की सारी समस्या ऐसी है, जिसका किसी भी शान्तिवादी को पूर्ण रूप से अध्ययन एवं समाधान करना चाहिए। अकेले शान्तिवादी ही क्यों, युद्ध को कम-से-कम सीमा में कर देने के इच्छुक (इसका इच्छुक भला कौन होगा ?) गैर शान्तिवादी को भी इसका सामना करना चाहिए और वह भी न्यष्ठि-युग (nuclear age) के नये संदर्भ में।

अपराधी कौन हैं ? वे कौन-से कानून तोड़ते हैं ? उन्हें कौन पकड़े और कैसे पकड़े ? उनके लिए कौन-सा न्यायालय है और उनके विरुद्ध फैसला कौन करेगा ? उन्हें दण्ड कैसे दिया जायगा ? और केवल उन्हें ही दण्ड कैसे मिलेगा, जो वस्तुतः अपराधी हैं ?

इन प्रश्नों पर कानूनी दृष्टि से विचार करने की मैं अधिकारिणी नहीं हूँ और न मैं यही समझती हूँ कि इसकी जरूरत है। विभिन्न देशों की विधि प्रणालियाँ अलग-अलग तरह की हैं और यद्यपि एक बहुत बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय कानून है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवाद में पड़े हुए पक्षों के विवाद को निबटाने के लिए वैधानिक पद्धतियाँ स्थिर हैं, तथापि इनमें से कोई भी पद्धति कोरिया या फारमोसा जैसी समस्याओं या हिटलर जैसे तानाशाह के विषय में कुछ करने की क्षमता नहीं रखतीं। स्वेज नहर के मामले में उनका उपयोग नहीं किया गया।

सफाई पक्ष से हमें कितनी भी कम सहानुभूति क्यों न हो, लेकिन यह सच है कि टोकियो और नूरेमबर्ग के फैसले पराजित के विरुद्ध विजेता के फैसले ही थे। इन मुकदमों का दिखावटीपन इस बात से स्पष्ट है कि अनेक फैसलों को अब त्याग दिया गया है या जर्मनी और जापान के पुनर्शस्त्री-

करण की 'वांछनीयता' समझे जाने के बाद युद्ध-अपराधियों की दी गयी सजाएँ बहुत काफी घटा दी गयी हैं।

सैनिक विजय किस प्रकार और कितने अर्से बाद अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वैधानिक अधिकार देती है? शक्ति के बल पर की गयी सन्धियाँ या समझौते विजेताओं द्वारा जोर-दबाव डालकर पराजित राष्ट्र के साथ या लाभ उठाने के लिए विजेताओं के बीच होनेवाले समझौते नैतिक दृष्टि से अनिवार्य कैसे होते हैं? इस प्रकार के नागरिक अनुबन्ध वैधानिक तौर से सह्य नहीं हो सकते। 'अनुचित प्रभाव' के दबाव में किया गया करार वैध नहीं होता और सशस्त्र लुटेरों द्वारा किया गया बँटवारा तो इससे भी अधिक अवैध होता है। १६५५ में जब मैं चीन गयी हुई थी, उस समय फारमोसा के प्रश्न पर चीनियों की भावना बहुत प्रबल थी और मुझे यह दलीलें बहुत सुनने को मिलीं कि पिछली सन्धियों में साफ घोषणा है कि फारमोसा चीन का अंग है और चीन से मतलब मुख्य भूमि के हम चीनी निवासियों से है। मैं यह नहीं समझ पाती कि किसी भी सन्धि या दरबार को कैसे यह अधिकार है कि वह किसी क्षेत्रविशेष को ही नहीं, बल्कि सारी जनता को एक सरकार के हाथ से दूसरी सरकार के हाथ में सौंप दे। युद्ध इस तरह का कोई अधिकार देता है, यह तो मैं और भी नहीं मानती। जिसकी लाठी हो भैंस उसीकी हो, यह नहीं हो सकता।

कानून और नैतिकता में क्या अन्तर है, इस सम्बन्ध में—और वह भी खासकर उस स्थिति में, जब कानून संहिताबद्ध न हो—किसीके विचारों को साफ करना सरल नहीं होता। ऐसा लगता है कि जो लोग कानून बनाते या कार्यान्वित करते हैं, वे सामान्य रूप से मान्य कतिपय मूलभूत न्याय-सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति एवं रक्षा का प्रयास करते हैं। किन्तु राष्ट्रीय कानून केवल उसी स्थिति में प्रभावशाली हो सकते हैं, जब अधिकांश नागरिक स्वाभाविक रूप से नियमों का पालन करनेवाले हों। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुतः तभी प्रभावशाली हो सकता है, जब कुछ देश

इस बात की चिन्ता किये बिना कि दूसरे देश क्या करते हैं, न्यायपूर्ण आचरण करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध रहें।

यह बात सोची जा सकती थी कि कतिपय प्रकार के अस्त्रों के प्रयोग या समुद्र के जल तथा विश्व के वातावरण को दूषित करनेवाले परीक्षण, जो संरक्षित प्रदेशों की जनता के लिए भी अन्यायजनक और खतरनाक हैं, ऐसे प्रश्न हैं, जिनकी वैधता के सम्बन्ध में निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की राय ली जानी चाहिए। स्पष्ट है कि यह मत उन राष्ट्रों को स्वीकार नहीं हैं, जो परमाणु तथा उद्जन अस्त्रों का संग्रह कर रहे हैं और अपने को विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा का रक्षक समझते हैं। किन्तु क्या न्याय किसी व्यक्ति को अपने ही मामले में निर्णायक बनने दे सकता है ?

यदि हम अतीत पर दृष्टि डालें, तो देखेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने और उसे कार्यान्वित करने के लिए अनेक लोगों को चिन्ता थी। सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स* की स्थापना उसी काल में हुई, जिस काल में ह्यूगो ग्रोटियस की महान् कृति 'आन दि ला ऑफ वार एण्ड पीस' (On the Law of War and Peace) के प्रकाशन के बाद राजनीतिज्ञों के दिमाग में 'राष्ट्रों के लिए कानून' का विचार घर करने लगा था। जो बात मैंने ऊपर लिखी है, उसके सम्बन्ध में ग्रोटियस की भूमिका का एक अंश उद्धृत करने योग्य है :

> "युद्ध के लिए और युद्ध में शक्ति-प्रयोग के लिए राष्ट्रों के बीच अधिकारविषयक सामान्य नियम है, इस बात को बिल्कुल निश्चित रूप से समझकर मैंने इसके पूर्व कारणों की दृष्टि से यह बहुत जरूरी समझा कि मैं इस विषय में किताब लिखूँ। मैं देखता हूँ कि सारे ईसाई जगत् में युद्ध छेड़ने की छूट मिली हुई है, जिससे बर्बर राष्ट्र भी लज्जित हो जायँ, किसी

* क्वेकरों का समाज। ये क्वेकर एक-दूसरे को फ्रेण्ड अर्थात् सुहृद् कहते हैं।

मामूली कारण या बिना कारण के ही शस्त्र-बल का सहारा लिया जाता है और एक बार जब हथियार उठाया जाता है, तो दैवी तथा मानवीय नियमों के आदर की सारी भावना को तिलांजलि दे दी जाती है, मानो उसके बाद लोगों को अन्धाधुन्ध अपराध करने का अधिकार मिल गया है।"

ग्रोटियस के बाद शान्ति-सन्धियों को कानूनी अभिलेख मान लिया गया है और अब राजनीतिज्ञ अपनी कार्रवाइयों को कानूनी दृष्टि से उचित सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए, वे उद्‌जनबम पर होनेवाले व्यय को भी 'सैनिक प्रतिरक्षा' के अन्तर्गत रखते हैं।

शुरू के एक क्वेकर विलियम पेन को कानून की अच्छी प्रशिक्षा मिली थी। १७६० में, जब ओल्ड बेली में उनके विरुद्ध मुकदमे की सुनवाई करनेवाले जूरी को जज ने डराने-धमकाने की कोशिश की, तब उनका यह कानूनी ज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। (यह मुकदमा न्याय-क्षेत्र में बुशेल केस के नाम से प्रसिद्ध है। बुशेल उस जूरी-मण्डल के अगुआ थे।) पेन्सिलवानिया के प्रथम गवर्नर के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद विलियम पेन ने 'ऐन एसे टुवार्ड्स दि प्रेजेण्ट एण्ड फ्यूचर पीस ऑफ यूरोप* (An Essay Towards the Present and Future Peace of Europe) लिखी, जिसमें उन्होंने कानूनी ढंग से यूरोप के लिए एक ऐसी संसद् की स्थापना का सुझाव दिया, जिसमें तुर्कों और रूसियों सहित यूरोपीय राष्ट्रों के ९० प्रतिनिधि रहें। उन्होंने लिखा कि इस संसद् की बैठक एक गोल कमरे में हो, जिसमें अनेक दरवाजे हों, ताकि महत्व के प्रश्न को लेकर स्थान के लिए किसी प्रकार के झगड़े की गुंजाइश न रहे। लोगों को वे कितनी अच्छी तरह से समझते थे।

---

* इस निबन्ध को अब सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स पीस कमिटी, यूस्टन रोड, लन्दन ने पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया है।

उनके द्वारा सुझायी गयी व्यवस्था में अपनी सीमाओं के बावजूद राष्ट्र-संघ की अपेक्षा एक उत्तमता थी, वह यह कि उसमें हर (यूरोपीय) सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि को रहना ही पड़ता और अधिवेशन में पूरे समय तक सदस्यों का उपस्थित रहना अनिवार्य होता। यदि कोई सदस्य अनुपस्थित होता, तो उस पर जुर्माना किया जाता। सदस्यों को पसन्दगी या नापसन्दगी के आधार पर चुनने अथवा न चुनने का कोई प्रश्न ही नहीं था और न अपनी जिम्मेदारी टाल सकने की ही कोई गुंजाइश थी। ऐसी यूरोपीय संसद् का एक बहुत बड़ा लाभ उनके मत से यह होता कि आपस में मिलने-जुलने से मित्रता बढ़ती, क्योंकि 'नरेशों में दूसरे देशों के दरबारों और नगरों तथा वहाँ के नागरिकों को देखने की जिज्ञासा रहती है। विश्व-शान्ति के लिए यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी होती कि वे नरेश एक-दूसरे से मिलते-जुलते, बातचीत करते और एक-दूसरे की शिष्टता तथा दयालुता से स्वयं शिक्षा लेते।'

मैं समझती हूँ कि विलियम पेन से हम अब भी बहुत कुछ शिक्षा ले सकते हैं। उन्होंने लिखा था : "बल-प्रयोग से किसीको अधीनस्थ किया जा सकता है, किन्तु प्रेम किसीको अपना बना लेता है। बुरे-से-बुरे व्यक्ति भी ऐसे लोगों पर आघात नहीं कर सकते, जो उन बुरे लोगों को प्यार करते हों। इसीलिए अन्ततः प्रेम और धैर्य की ही जीत होती है। प्रेम ईसाई धर्म की सबसे कठिन शिक्षा है, लेकिन इस कठिनाई के कारण उसे सीखने के लिए हमें और भी उद्यत रहना चाहिए। असाध्य को साध्य बनाना ही पौरुष है।" अपने जीवन में उन्होंने कारागार में और उसके बाहर कुछ ऐसे अनुभव भी किये।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शान्ति समितियों (Peace Societies) ने पंच निर्णय तथा न्याय की अन्य पद्धतियों द्वारा सभी विवादों के निपटारे के लिए राष्ट्रों का न्यायालय (Court of the Nations) स्थापित करने की सम्भावनाओं पर विचार किया। १८९५ से

१९१६ तक शान्ति तथा पंच निर्णय के विषय में विचार करने के लिए कई सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों में क्वेकरों के एकमत होने में सबसे बड़ा व्यवधान दोषी राष्ट्र के विरुद्ध दण्डोपबन्ध की समस्या थी।*

> कानून तभी चल सकता है, जब उसकी रक्षा की जाय और आवश्यकता होने पर उसे कानून तोड़नेवाले पर शक्तिपूर्वक लागू किया जाय। कानून तोड़नेवाले को या तो अपराध करने के पूर्व ही रोक दिया जाय या अपराध करने पर उसे दण्ड दिया जाय। अपराध निरोध और सजा दोनों में दण्ड-शक्ति काम करती है। यदि किसी राष्ट्र की सरकार आक्रमण जैसे कार्य द्वारा कानून तोड़ती है, तो उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार की दण्ड-शक्ति के प्रयोग का अर्थ होता है युद्ध, भले ही उस युद्ध को 'पुलिस कार्रवाई' का ही नाम क्यों न दिया जाय। ऐसी स्थिति में शान्तिवादी न्यायशास्त्री के सामने एक समस्या आती है; वह मनमाने युद्ध के स्थान पर विवेकपूर्ण न्यायपद्धति की प्रतिष्ठा करना चाहता है, लेकिन वह फिर देखता है कि इसके लिए भी युद्ध अनिवार्य है।

अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध दण्डोपबन्ध के प्रश्न पर १९३७ में विश्व क्वैकर सम्मेलन के अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-आयोग ने भी विचार किया और किसी एक निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ रहा।

एकमत होने में असमर्थता स्वीकार कर लेने के बाद समस्या फिर जहाँ की तहाँ रह जाती है। एक बात स्पष्ट है कि यह समस्या राष्ट्रनायकों के लिए या शान्तिवादियों के लिए नयी नहीं है। नयी बात यह है कि आधुनिक युद्धास्त्रों के निर्माण से सभी राष्ट्रों के हाथ में बहुत बड़ी विनाशकारी शक्ति आ गयी है।

---

* मार्गरेट ई० हर्स्ट : दि क्वेकर्स इन पीस एण्ड वार, पृष्ठ ४४८, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन।

पहले लीग ऑफ नेशन्स और फिर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था द्वारा तथाकथित अपराधी राष्ट्ररूपी समस्या का सामना करने की कोशिश की। राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र के सातवें अध्याय में सैनिक दण्डोपचन्धों के प्रयोग के विषय में, जिनमें नभ, समुद्री तथा भूमि सेनाओं द्वारा कार्रवाई भी शामिल है, विस्तृत व्यवस्थाएँ निर्धारित की गयी हैं। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई के विरुद्ध नैतिक दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी कई आपत्तियाँ हैं, जो राष्ट्रसंघ की पूरक अथवा उत्तराधिकारी का स्थान ले सकनेवाली किसी भी विश्व सरकार के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होती हैं।

पहली कठिनाई यह निर्णय करने की है कि कौन सा पक्ष या राष्ट्र वस्तुतः अपराधी है। दूसरी कठिनाई निष्पक्ष निर्णायक पाने की है। पिछले वर्षों में 'अभ्याक्रमण' की व्याख्या करने के प्रयास हुए हैं। सोवियत संघ ने १९५० में राष्ट्रसंघ के समक्ष व्याख्या का एक प्रारूप प्रस्तुत किया। इस व्याख्या के विरुद्ध तत्काल प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि उस समय राष्ट्रसंघ के अनेक सदस्य ऐसा समझते थे कि रूस षड्यंत्रकारी राष्ट्र है। कुछ समय बाद इस पर यहाँ तक टीका की गयी कि पश्चिम के सर्वाधिक सुधारवादी राजपुरुष भी 'किसी कम्युनिस्ट के इस कथन पर भी सन्देह प्रकट करेंगे कि दो और दो मिलकर चार होते हैं।'

छह वर्ष बाद रूस के उस प्रस्ताव पर दृष्टि डालने से ऐसा भान होता है कि 'अभ्याक्रमण' की व्याख्या के विषय में एकमत स्थिर करने का वह प्रयास निष्ठापूर्ण हुआ होता और उससे एक ओर जहाँ गलतियाँ होने से रुकतीं, वहीं दूसरी ओर जल्दबाजी के निर्णय न होते। हम सभी आक्रामकों की निन्दा तो करें, लेकिन 'अभ्याक्रमण क्या है', इस विषय में हममें मतभेद रहे, तब एकमात्र सम्भव तरीका यही रह जाता कि प्रत्येक घटना पर उसके गुण-दोष के अनुसार निर्णय किया जाय। कई राष्ट्रों ने वस्तुतः इसी मार्ग का अनुसरण करने पर जोर भी दिया है। प्रख्यात वैज्ञानिक डॉक्टर

हान्स थरिंग ने 'बुलेटिन ऑफ एटामिक साइण्टिस्ट्स' (शिकागो, २३ अप्रैल १९५३) में इस तर्क का बहुत अच्छी तरह से पक्ष-प्रतिपादन किया है। अभ्याक्रमण क्या है, इस सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ के कुछ सदस्यों का मत था कि यह हिंसा के प्रकार या स्थिति पर नहीं, नीयत पर निर्भर करता है। यह निर्णय काण्डविशेष की स्थितियों के प्रकाश में ही किया जा सकता है। दूसरे राष्ट्रों का कहना था कि यदि आक्रामक समझे जानेवाले कार्यों की सूची बना दी जाय, तो कोई भी शक्तिशाली आक्रामक उग्रतापूर्वक कार्रवाई करने का कोई ऐसा रास्ता निकाल लेगा, जो उक्त सूची में न आता हो। इस प्रकार वह अपने को निन्दित होने से बचा लेगा। कानूनी आधार पर करापवंचन होते आ रहे हैं और आयकर कानून उन पर विजय पाने के लिए बराबर बनते ही जाते हैं!

तीसरी दलील यह थी कि 'आन्तरिक अभ्याक्रमण' अर्थात् दूसरे राज्य में पंचमांगियों को अथवा राज्य की सत्ता उखाड़ फेंकने के लिए प्रयत्नशील विध्वंसकारी आन्दोलनों को दी जानेवाली आर्थिक सहायता इस सूची के अन्तर्गत नहीं आती। नीदरलैण्ड के एक प्रतिनिधि ने खास तौर से कहा कि "आन्तरिक अभ्याक्रमण में रत होने की नीयत रखनेवाला राष्ट्र स्वभावतः यह चाहेगा कि दूसरा राष्ट्र आत्मरक्षा के लिए मेरे विरुद्ध हथियार उठाने से वंचित रहे।" यदि इस प्रकार व्याख्यात आन्तरिक अभ्याक्रमण का आत्मरक्षा के लिए सैनिक शक्ति से प्रतिरोध किया जा सकता है, तो ब्रिटेन द्वारा समर्थित उस अमेरिकी परराष्ट्रनीति की व्याख्या हम कैसे करेंगे, जिसकी घोषणा ८ अगस्त १९५२ को डेनवर में एक प्रेस कान्फ्रेन्स में जान फास्टर डलेस ने निम्नलिखित शब्दों में की थी:

"हम अपने तक ही सीमित रहने की नीति को त्यागेंगे और बन्दी जनता में आशा और प्रतिरोध की भावना जाग्रत करेंगे। मेरे मत से व्यापक युद्ध का एकमात्र यही विकल्प है।"

जो जज या पुलिसमैन वही अपराध करता है, जिसका वह निन्दक

है, वह अपने को अपने पद के लायक नहीं सिद्ध कर सकता। यह दलील जरूर दी जा सकती है कि एक विघटनकारी आन्दोलन का लक्ष्य अच्छी (अर्थात् जनतंत्रीय) सरकार को उखाड़ फेंकना है और दूसरा बुरी (कम्युनिस्ट) सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए प्रोत्साहित करता है। किन्तु कम्युनिस्ट दावा करते हैं कि सच्चे लोकतंत्रवादी हमीं हैं, पश्चिमी सरकारें तो पूँजीवादी हैं और फलस्वरूप खराब हैं, हमारे ही देशों में दो दल हैं, हर दल अपने को सच्चा न्यायवादी और दूसरे को अपराधी समझता है।

यदि दलील दी जाय कि यह ऐसा प्रश्न है, जिस पर राष्ट्रसंघ द्वारा निर्णय किया जाना चाहिए, तो उतने ही जोरदार ढंग से और अधिक न्याय के साथ यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रसंघ न तो सम्यक् प्रतिनिधित्वपूर्ण है और न ही निष्पक्ष। जब तक ६० करोड़ चीनी जनता का 'प्रतिनिधित्व' ऐसी भूतपूर्व सरकार करे, जो शक्ति के बल पर जनता के ऊपर लदी हुई थी, जिसे शक्ति से उखाड़ फेंका गया और जिसे पुनः सत्ता मिलने की कोई सम्भावना है, जब तक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर निर्भर प्रत्येक लैटिन अमेरिकी देश को एक वोट प्राप्त है, तब तक राष्ट्रसंघ क्या किसी प्रकार का न्यायकर्ता हो सकता है? जहाँ बड़ी शक्तियों के हित का कोई प्रश्न न हो, उन मामलों में वह अपेक्षाकृत निष्पक्ष रहता है, कभी-कभी बड़ी शक्तियों को वह नियंत्रित भी करता है और निस्सन्देह रूप से इस दिशा में प्रयास करने के अलावा वार्ता कराने का उसका कार्य भी अच्छा रहा है, तथापि न्यायकर्ता के रूप में उसका रेकार्ड कोई खास अच्छा नहीं है।

स्थिति जो भी हो, कोई भी यथार्थवादी यह स्वीकार करेगा कि जब तक रूस और अमेरिका एकमत नहीं होते, तब तक इनमें से किसी एक के द्वारा भी दूसरे राष्ट्र को 'अनुशासित' करने का प्रयत्न किये जाने पर बड़ा युद्ध हो सकता है। यदि वे एकमत हो जायँ, तो वे प्रतिशोध का भय किये बिना किसी राष्ट्र पर तभी तक अपनी इच्छा लाद सकते हैं, जब तक

परमाणु तथा उद्‌जन अस्त्रों पर उनका एकाधिकार है। दूसरे राष्ट्रों के पास भी इन अस्त्रों के हो जाने पर वे अपना प्रभाव व्यापक संहार के बल पर ही थोप सकेंगे।

इस आधुनिक परिस्थिति में वस्तुतः आशा की बात एक ही है कि दण्ड का कुछ भी प्रश्न हो, अब राष्ट्रों द्वारा अपने कार्य को अर्द्ध-वैधानिक ढंग से उचित सिद्ध करने की कोशिश की जाती है। वे अब यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि हम पर हमला हो रहा था या हमला होने की सम्भावना थी इसलिए हम अकेले या सामूहिक रूप से आत्म-रक्षा करने के अपने जन्मजात अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं। सोवियत रूस हंगरी के सम्बन्ध में, फ्रांस अल्जीरिया के सम्बन्ध में और दक्षिण अफ्रीका रंगभेद की नीति के सम्बन्ध में जिस प्रकार की दलील देते हैं, उसी प्रकार उन राष्ट्रों की ओर से भी दलील दी जाती है कि हमारी कार्रवाई घरेलू नीति का प्रश्न है, न कि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय या जाँच का विषय। वे दलील देते हैं कि हम विदेशी भूमि पर अपने ही राष्ट्रवासियों की रक्षा कर रहे थे, इसलिए सामान्य रूप से स्वीकृत अर्थ में आक्रामक नहीं हैं। या फिर वे यह दलील देते हैं कि बहुत समय से चले आ रहे अन्याय के निराकरण के लिए हमारी यह कार्रवाई जरूरी थी। विश्व-जनमत के समक्ष इस प्रकार के आग्रह दोनों पक्षों द्वारा किये जाते हैं। इसे हम अरब-इजराइल विवाद में देख रहे हैं और स्वेज-नहर विवाद तथा कोरिया युद्ध में देख चुके हैं।

विश्व-जनमत के समक्ष ऐसा आग्रह किया जाता है और तानाशाह सरकारें भी जनता के समक्ष अपना औचित्य सिद्ध करती हैं। इस बात का अर्थ यह है कि विश्व के राष्ट्र सैनिक हिंसा का सहारा लेने पर भी विधान की नैतिक शक्ति को स्वीकार करते हैं। 'सिरफिरे हमले' की बात छोड़ दी जाय, तो स्पष्ट है कि यदि द्वेष, पक्षपात या स्वार्थरहित न्यायपूर्ण निर्णय मिल सके, तो उस स्थिति में अधिकांश विवाद न्याय का सहारा लेकर

सुलझाये जा सकते हैं। निश्चय ही इसका अर्थ यह है कि एक दूसरे पर आरोप लगानेवाले राष्ट्रों के विवादों या किसी राष्ट्र के अपराधी अथवा निर्दोष होने की शिकायतों का फैसला करनेवाले किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की व्यवस्था ऐसे लोगों के हाथों में होनी चाहिए, जो राष्ट्रों के प्रतिनिधि न हों और राष्ट्रीय स्वार्थ के वेग में न बह जायँ। राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् और महासभा दोनों में ऐसे प्रतिनिधि हैं, जिन्हें तटस्थ नहीं कहा जा सकता, फलस्वरूप दोनों अपने कर्तव्य का समुचित निर्वाह नहीं कर पातीं। विश्व-न्यायालय इस कार्य में सफल हो सकता है, बशर्ते कि अधिकाधिक राष्ट्र आज की तरह छोटे विवाद ही नहीं, बल्कि बड़े विवाद भी निर्णयार्थ भेजें और न्यायालय के उन फैसलों को भी मानें, जिनमें उन्हें अर्थ या सम्मान की दृष्टि से काफी बड़ी क्षति उठानी पड़ रही हो।

सम्प्रति बड़े राष्ट्र राष्ट्रसंघ या दूसरी वार्ताओं में होनेवाले निर्णयों की अवहेलना करते हैं। इनमें हमारा देश भी एक है। इन निर्णयों की अवहेलना के पीछे कोई निष्ठा की भावना नहीं, बल्कि आर्थिक और सैनिक शक्ति का गर्व रहता है। हम अपनी इस शक्ति की डींग मारते हैं। 'शक्ति के साथ वार्ता' का वस्तुतः अर्थ भी यही है। लेकिन इन सब बातों के बावजूद उत्तरोत्तर यह स्पष्ट होता जा रहा है कि झगड़ों को शक्ति-प्रयोग से नहीं, न्याय पर आधृत विवेक के द्वारा सुलझाना होगा। आधुनिक युद्ध का आत्मघातक रूप हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जा रहा है।

मेरे खयाल से वास्तविक कठिनाई यह है कि राष्ट्रों के बीच अधिकांश विवादों के साथ ऐसी पुरानी शत्रुता जुड़ी हुई है, जिसमें दोनों ओर से हिंसात्मक कार्रवाइयाँ हुई हैं। प्रायः दोनों पक्षों की शिकायतों में वास्तविकता भी होती है। एक आयरिश क्वेकर ने ऐसी ही बात मुझे एक पत्र में आयरलैण्ड के विवाद के सम्बन्ध में लिखी है। उसने कहा है : "परमात्मा जो भी समझता हो, मानवीय दृष्टि से देखा जाय तो (इस समस्या का) ऐसा कोई भी समाधान नहीं है, जिसमें बहुत कुछ अन्याय न हो।······

यदि आप यह पूछें कि इतिहास की दूसरी तथा अच्छी गति और हो ही क्या सकती थी, तो मैं यही कहूँगा कि इसका सन्तोषजनक उत्तर देना कठिन है।" इस सम्बन्ध में उसने आगे कहा है : "भौगोलिक तथ्यों ने एक छोटे एवं असफल राष्ट्र को एक सम्पन्न एवं सफल राष्ट्र का पड़ोसी बना दिया है। समस्या का शायद यह बहुत उपयुक्त वर्णन है। इसके अलावा इस समस्या में सेल्ट और ऐंग्लो-सैक्सन का अन्तर भी है, जो बहुत बड़ा है और जिसका कारण केवल परिवेष्ठ ही नहीं है।'

जिस संसार में अनेक राष्ट्रों के पास उद्‌जन बम हों या अनेक राष्ट्र उद्‌जन बम बनाने में समर्थ हों, उस संसार में कार्य करनेवाला विश्व-न्यायालय अपने निर्णयों को कार्यान्वित कराने के लिए हिंसा का प्रयोग न कर सकेगा। पुराने विचारों की परिधि में सोचनेवाले लोगों के लिए यह बात कितनी भी अरुचिकर क्यों न हो, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि मैं 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' (बाइबिल के दो खण्डों में पहला खण्ड) की उपदेष्टा होती, तो मैं हिंसा के सम्बन्ध में परमात्मा के निर्णय को इस प्रकार व्यक्त करती : "हिंसा अपने को ही विनष्ट कर देती है या उनका विनाश कर देती है, जो उसका सहारा लेते हैं।" मुझे इस बात की अधिक चिन्ता है कि विश्व का आत्मविनाश रोकने के लिए समय रहते हिंसा का उचित विकल्प निकल आये। मैं समझती हूँ, हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस प्रकार बहुत से अपराधों का कानून से निराकरण नहीं हो सकता या उनके निराकरण के लिए अन्याय का सहारा लेना पड़ेगा, उसी प्रकार ऐसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अपराध भी होंगे, जिनके सम्बन्ध में कोई भी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून घृणा प्रकट करने के अलावा कोई दण्ड निर्धारित न कर सकेगा। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उठेंगे, जिनका कोई उचित और न्यायपूर्ण समाधान नहीं हो सकता। इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया जाय, तो राष्ट्रों के बीच दुर्भावना घटेगी और वे समझौते का रास्ता निकाल लेंगे।

● ● ●

नवाँ अध्याय

किसी भी उचित एवं विवेकपूर्ण निर्णय के लिए संसार में अरब-इजराइल विवाद की तरह की शायद कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या नहीं है।

एक के बाद एक देश में यंत्रणा पाये हुए यहूदियों ने कभी भी अपने को 'एक जाति' और फिलिस्तीन को अपनी मातृभूमि मानना बन्द नहीं किया। लेकिन फिलिस्तीन ऐसी मातृभूमि था जो कुछ यहूदियों के बराबर रहने के बावजूद लगभग दो हजार वर्ष से दूसरे लोगों का देश बन चुका था। पिछले एक हजार अथवा और भी अधिक वर्षों से मुसलमानों ने तीर्थ-यात्री के रूप में यहूदियों के फिलिस्तीन आने का न केवल अधिकार स्वीकार किया, अपितु वहाँ यहूदियों के आकर स्थायी रूप से बसने का अधिकार भी माना। यहूदियों को मुस्लिम शासन में रहना पड़ता था, फिलिस्तीन में भी उन्हें विश्व के अन्य भागों की तरह अधिक सुख-सुविधा नहीं थी, फिर भी उन्हें आने की सुविधा थी।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार पश्चिम की चीज है: जिस समय पश्चिम में इसका सूत्रपात हुआ, प्रायः उसी समय अरबों और यहूदियों में भी इसके बीज अंकुरित हुए। यहूदियों के आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारी जोर जुल्म के फलस्वरूप हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध का लाभ उठाकर इस आन्दोलन ने विश्व के हृदय में यह बात जमायी कि यहूदियों को फिलिस्तीन में अपना राष्ट्र स्थापित करने का अधिकार है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व और युद्ध-काल में जब उन पर जुल्म की नयी लहर आयी, तब वे अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए बाध्य हुए और उन्होंने फिलिस्तीन को यहूदी राज्य बनाने की माँग की, ताकि आप्रवासन का नियंत्रण उन्हींके हाथों में हो। वे मानते हैं कि फिलिस्तीन पर

हमारे अधिकार का आधार धर्म, इतिहास और वे विभिन्न कानूनी अभिलेख हैं, जिनकी पुष्टि अन्ततः १९४७ में फिलिस्तीन विभाजन के राष्ट्रसंघीय निर्णय के रूप में हुई। इसके अलावा वे यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने फिलिस्तीन की अधिकांश भूमि खरीदी, उसे लगान पर उठाया और वे अरबों से ज्यादा अच्छे रूप में वहाँ खेती करते हैं। बहुत काल बीत जाने की बात छोड़ दी जाय, तो फिलिस्तीन पर यहूदियों को, अमेरिका पर अमेरिकनों और आस्ट्रेलिया पर आस्ट्रेलियनों से, शायद अधिक कानूनी अधिकार है। किन्तु फिलिस्तीन से उनका लगाव मुख्यतः आध्यात्मिक है।

लोग इस बात को भूल जाते हैं कि फिलिस्तीन में अरब थे और यद्यपि चार सौ वर्ष तक वे तुर्कों के आधिपत्य में रहे, तथापि तुर्क-कुशासन के विरुद्ध अरब राष्ट्रीय आन्दोलन शक्तिशाली होता जा रहा था। यह आन्दोलन अंशतः राष्ट्रवाद और अंशतः पाश्चात्य पद्धति के जनतंत्रीय विचारों पर आधृत था। एक महान् यहूदी विचारक अहद हआम ने अपने साथी राष्ट्रभक्तों और विशेषकर कट्टर यहूदियों को १८९० में चेतावनी दी थी कि वे अरबों की उपेक्षा न करें। उन्होंने कहा था :

> "जिस जनता के बीच हम बसना चाहते हैं, उसके साथ व्यवहार करने में हमें बहुत सजग रहना चाहिए। उसके प्रति सहृदयता और मित्रता रखना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यदि अरबों ने कभी भी यह अनुभव किया कि प्रतिपक्षी अपने कार्यों से उन्हें दबा रहे हैं या उनके अधिकारों का हनन हो रहा है, तो शान्त रह जाने और समय की प्रतीक्षा करने के बावजूद उनके हृदय में प्रतिशोध की भावना बनी रहेगी।"*

लगभग ३० वर्ष बाद अहद हआम ने घटनाक्रम पर अपनी निराशा

* डाक्टर वाल्टर जैण्डर द्वारा 'इज दिस दि वे ? ए काल टु ज्यूज' में उद्धृत।

व्यक्त की : "फिलिस्तीन के उपनिवेशीकरण की शुरुआत से ही हमने अरबों को हमेशा अस्तित्वहीन माना था।"

इस विवाद में ब्रिटेन का रेकार्ड कोई सराहनीय नहीं है, हालाँकि आरम्भ में आदर्शवादिता काफी थी। हमने जो गलतियाँ कीं, उनका एक कारण यह था कि अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों की तरह हममें भी शक्तिप्रधान राजनीति की असाध्य प्रवृत्ति है। दूसरा कारण जान-बूझकर निर्दयता या उत्तरदायित्वहीनता का नहीं, बल्कि अबुद्धिमत्ता और उत्तेजना का अवलम्बन था।

सन् १९१४ में उथमान (Ottoman) साम्राज्य धराशायी होने की स्थिति में पहुँच चुका था; प्रथम विश्व-युद्ध ने तो अनेक वर्ष पहले से प्रारम्भ उस प्रक्रिया को केवल पूरा करने का काम किया। समृद्ध प्रान्त रूस को समर्पित किये जा चुके थे, जो कुस्तुनतुनिया और दर्रेदानियाल के समुद्री मार्ग को भी चाहता था। फ्रांस ट्यूनीसिया पर अधिकार कर चुका था और सीरिया पर दावा किये हुए था। एक के बाद एक शक्तिशाली पड़ोसी का शिकार होनेवाले साइप्रस पर तुर्कों ने दो सौ वर्ष तक शासन किया, किन्तु १८७८ में ब्रिटेन से सुलतान को ९२ हजार ८ सौ पौण्ड वार्षिक रकम देने की बात तय करके उसे अपने अधिकार में ले लिया था और सुल्तान की प्रभुसत्ता को नामरूप में बनाये रखा था। १९१४ में ब्रिटेन ने द्वीप को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लिया। १९१५ में उसने सर्बिया को सहायता देने पर साइप्रस यूनान को हस्तांतरित कर देना स्वीकार किया। यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया और साइप्रस पर ब्रिटिश कब्जा कायम रहा। ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत बढ़ती हुई समृद्धि के बावजूद साइप्रस की जनता आत्म-निर्णय का अधिकार दिये जाने के लिए प्रबल आन्दोलन कर रही है। यह आन्दोलनकारी जनता अधिकांशतः यूनानी वंशज और यूनानी चर्च की अनुयायी है। लेकिन जब तक मध्यपूर्व की स्थिति ब्रिटेन के हितों के लिए खतरा उत्पन्न करनेवाली है, तब तक सैनिक

अड्डे की दृष्टि से साइप्रस का ब्रिटेन के लिए बहुत मूल्य है और वह उसे छोड़ नहीं सकता।

मिस्र भी तुर्क-साम्राज्य का एक अंग था, किन्तु १८८२ में आन्तरिक विद्रोह का दमन करने के लिए खादिव (वाइसराय) के अनुरोध पर ब्रिटिश सेनाओं ने मिस्र में प्रवेश किया और वहीं रुक गयीं। यहाँ भी तुर्की के सुलतान का अधिराजत्व स्वीकार किया गया, किन्तु ब्रिटेन का मजबूत नियंत्रण था और प्रथम महायुद्ध में उसने मिस्र को अपना संरक्षित राज्य बना लिया। मिस्री जनता की राय लिये बिना १९१९ की शान्ति-सन्धि के १५२वें अनुच्छेद के द्वारा १८८८ के स्वेज नहर समझौते में उथमान साम्राज्य के स्थान पर ब्रिटेन का नाम दे दिया गया। १९२२ में मिस्र स्वतंत्र सार्वभौम राष्ट्र घोषित किया गया और ब्रिटेन का संरक्षण समाप्त हो गया, किन्तु ब्रिटेन की सेनाएँ मिस्र-सरकार की इच्छा न रहते हुए भी वहाँ बनी रहीं।

सन् १९२४ में मिस्र ने प्रस्ताव किया कि ब्रिटिश सेनाएँ हटा ली जायँ और स्वेज नहर के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की रक्षा की जिम्मेदारी लीग ऑफ नेशन्स को सौंप दी जाय। ब्रिटेन ने इसे अस्वीकार कर दिया। उत्तर अफ्रीका में फासिस्ट खतरे को देखकर १९३६ में की गयी आंग्ल-मिस्री सन्धि से ब्रिटेन को २० वर्ष तक मिस्री भूमि पर अपनी सेना रखने का अधिकार मिल गया, किन्तु मिस्र ने १९५२ में ही इस सन्धि को समाप्त करने की एकतरफा घोषणा कर दी और बगदाद-सन्धि संगठन में शामिल होने से इनकार कर दिया। यदि मिस्र बगदाद गुट में शामिल हो जाता, तो इसका मतलब यह होता कि वह अब भी अपनी भूमि पर विदेशी सेना रखेगा। १९५६ की गर्मियों में १९३६ की सन्धि के अनुसार ब्रिटिश सेनाओं ने स्वेज क्षेत्र खाली कर दिया और उसके बाद ही मिस्र के राष्ट्रपति ने स्वेज नहर कम्पनी के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की। राष्ट्रसंघ की अवहेलना करके मिस्र ने स्वेज नहर को इजराइली जहाजों के लिए बन्द कर दिया, जिसका कारण

राष्ट्रपति नासिर ने यह बताया था कि मिस्र अब भी इजराइल से युद्धरत है। वह इजराइल की सीमा पर प्रायः हमला भी किया करता था। द्वितीय महा-युद्ध में ब्रिटेन ने भी इसी तरह धुरी राष्ट्रों के लिए नहर बन्द कर दी थी। विश्व-जनमत के विरोध के बावजूद १९५६ में ब्रिटेन ने मिस्र पर हमला किया और अन्त में अपनी सेनाएँ हटाने के लिए बाध्य हुआ।

प्रथम विश्व-युद्ध पर दृष्टि डालने से स्पष्ट दिखायी पड़ेगा कि विजेताओं द्वारा शान्ति सन्धियों को लाभ का साधन बनाये जाने के बावजूद अन्त-र्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में नये विचार फैलने लगे थे, हालाँकि उन विचारों में शीत युद्ध की राजनीति रहती थी। काहिरा स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त सर हेनरी मैकमेहन ने २४ अक्तूबर १९१५ को मक्का के शासक शरीफ हुसेन को एक पत्र भेजा। ब्रिटेन समझता था कि शरीफ हुसेन अरबों को मित्र राष्ट्रों के पक्ष में कर सकते हैं। अपने इस पत्र में सर हेनरी मैकमेहन ने वचन दिया था कि अरबी-भाषी जनता द्वारा आबाद सभी क्षेत्रों के लिए स्वतंत्रता, कतिपय अपवादों के साथ, स्वीकार की जायगी। उन्होंने अपने खयाल से यह स्पष्ट कर दिया था कि ऐसा एक अपवाद फिलिस्तीन भी है, जिसमें फ्रांस का भी हित था। किन्तु प्रारूप ठीक न होने के कारण पत्र की शब्दावली एकदम स्पष्ट नहीं थी। शरीफ हुसेन ने पत्र की अरबी नकल तुरन्त प्रकाशित करा दी और अरबों ने उससे यह अर्थ लगाया कि हमें फिलिस्तीन को स्वतंत्र करने का वचन दिया गया है। अंग्रेज समझते थे कि पत्र बिल्कुल स्पष्ट है, उन्होंने पत्र-व्यवहार को गोप-नीय माना और कुछ समय तक न तो पत्र का अंग्रेजी रूप प्रकाशित किया और न उसकी कोई व्याख्या प्रस्तुत की।

अंग्रेज निश्चय ही नहीं चाहते थे कि नवम्बर १९१७ की बाल्फर घोषणा में कोई छल-कपट की बात हो। ठीक शब्दावली के सम्बन्ध में वस्तुतः वे बहुत सतर्क थे। उस घोषणा में कहा गया था :

"ऐसा कोई भी काम न किया जायगा, जिससे फिलिस्तीन की वर्तमान गैरयहूदी जनता के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर या किसी दूसरे देश में रहनेवाले यहूदियों के अधिकारों और राजनीतिक प्रतिष्ठा पर आघात हो, इस तथ्य को अच्छी तरह समझकर सम्राट् की सरकार फिलिस्तीन में यहूदियों की राष्ट्रभूमि की स्थापना को अनुकूल दृष्टि से देखती है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से सच्चा प्रयास करेगी।"

डॉक्टर वेजमैन और वार्ता करनेवाले दूसरे यहूदी जो चाहते थे वह इससे अधिक था। उनकी माँग थी कि 'फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्रभूमि की पुनर्प्रतिष्ठा' की जाय। 'यहूदी लोगों की राष्ट्रभूमि की स्थापना' के लिए केवल प्रश्रय प्रदान करने का वचन देकर और गैरयहूदी जनता के अधिकारों पर आघात न करने की स्पष्ट बात करके ब्रिटेन ने मान लिया था कि हमने फिलिस्तीन में यहूदियों के पूर्ण शासन के दावे को अस्वीकार कर दिया है। १९१८ के प्रारम्भ में जब शरीफ हुसेन ने बाल्फर घोषणा की बात सुनी, तब उन्हें ब्रिटिश परराष्ट्र विभाग के एक प्रवक्ता ने आश्वासन दिया था कि फिलिस्तीन में 'अरब जनता की आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता' की रक्षा की जायगी। पता नहीं कि 'नागरिक एवं धार्मिक अधिकार' कैसे 'आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता' बन गये; शायद अंग्रेजों ने समझा कि वे एक ही चीज हैं।

राष्ट्रपति विल्सन के प्रसिद्ध १४ सूत्रों में एक सूत्र यह भी था कि 'वर्तमान उथमान साम्राज्य के तुर्क-खण्डों को प्रभुसत्ता मिलनी चाहिए और जो दूसरे राष्ट्र तुर्क-शासन के अन्तर्गत हैं, उन्हें जीवन की सुरक्षा और स्वायत्ताधिकार प्राप्त करने के लिए बिना रोक-टोक अवसर प्राप्त करने का आश्वासन दिया जाना चाहिए।" इस सूत्र से सभी अरबों ने ऐसा समझा कि हमें तत्काल पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जायगी, किन्तु उन्हें यह स्वतन्त्रता नहीं मिली। लीग आफ नेशन्स की संविदा के २२वें अनुच्छेद

में कहा गया था कि "जिन क्षेत्रों में ऐसी जनता रहती है, जो विश्व की वर्तमान कठिन स्थिति में अपने पाँवों पर नहीं खड़ी हो सकती, वहाँ यह सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिए कि ऐसे लोगों का कल्याण एवं विकास सभ्यता का पवित्र उत्तरदायित्व है।" इस संविदा में स्पष्ट रूप से "पहले तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाली कतिपय जातियों" का उल्लेख किया गया था, जो "विकास की उस अवस्था में पहुँच गयी है, जहाँ स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उनके अस्तित्व को सम्प्रति स्वीकार किया जा सकता है। शर्त केवल यह रहेगी कि जब तक वे अपने पाँवों पर पूर्ण रूप से खड़े होने योग्य न हो जायँ, तब तक संरक्षक राष्ट्र उन्हें प्रशासनिक सलाह तथा सहायता दे।" संविदा में यह भी कहा गया था कि "संरक्षक का चयन करने में इन जातियों की इच्छा को प्रधानता दी जानी चाहिए।"

अरब लोग संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। यदि संरक्षक राष्ट्र उन्हें स्वीकार होता भी, तो इसके लिए वे अमेरिका को पसन्द करते। वे अनुभव करते थे कि हमारी आकांक्षाओं को फ्रांस और ब्रिटेन के हितों के सामने पीछे ढकेल दिया गया है। ब्रिटेन द्वारा अपने संरक्षित प्रदेश फिलिस्तीन में यहूदियों को बसने के लिए प्रोत्साहित किये जाने के कार्य को वे उस वादे का उल्लंघन मानते थे, जिसमें उनके मतानुसार फिलिस्तीन को अरबों के हवाले करने की बात कही गयी थी। अप्रैल १९२० में यरूशलम के अरबों ने दंगा कर दिया। तब से यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों के लिए समान रूप से पवित्र यह भूमि घृणा और रक्तपात का स्थल बन गयी है।

फिलिस्तीन में यहूदियों का प्रवेश पहले थोड़ी संख्या में हो रहा था। १९३२ तक डॉक्टर वेजमैन ने वहाँ यहूदी राज्य स्थापित करने के किसी भी दावे का खुलेआम खण्डन किया। जर्मनी में नाजी दल के सत्तारूढ़ होने पर मध्य यूरोप में यहूदियों की स्थिति बहुत खराब हो गयी। उनमें से अधिकांश को एकमात्र फिलिस्तीन ही अपना आशा-केन्द्र दिखायी पड़ा और

भारी संख्या में यहूदी वहाँ पहुँचने लगे। अरबों ने जो विद्रोह किया, उसे शान्त करने में अंग्रेजों को तीन वर्ष लगे और अरबों के साथ न्याय बरतने या उन्हें शान्त करने के लिए मई १९३९ में श्वेत पत्र प्रकाशित करना पड़ा। इस श्वेत पत्र में ७४ हजार और यहूदियों को फिलिस्तीन में स्थान देने की घोषणा की गयी और कहा गया कि इसके बाद और यहूदियों को बसाने का निर्णय अरबों की सहमति होने पर ही किया जायगा। पील आयोग (१९३६) ने फिलिस्तीन के उपद्रवों को "मूलतः अधिकार का अधिकार से संघर्ष" तथा "अरब और यहूदी राष्ट्रवादों के संघर्ष की देन" कहा था। किन्तु अरब राष्ट्रवाद जहाँ अपने को हतोत्साह अनुभव कर रहा था, वही यहूदी राष्ट्रवाद नाजियों द्वारा यंत्रणा और ब्रिटेन द्वारा संरक्षण दिये जाने से बल प्राप्त करता जा रहा था।

१९३९ के श्वेत पत्र ने, जिसके प्रकाशित होने के तीन मास बाद द्वितीय विश्व-युद्ध की शुरुआत हुई, स्थिति को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। ऐसे अवसर पर जब काफी संख्या में यहूदियों को भागना पड़ रहा था, उनके फिलिस्तीन में आकर बसने पर लगाया गया नियंत्रण उन्हें असह्य हो गया। वे मानते थे कि ऐसा करके ब्रिटेन अरबों का तुष्टीकरण कर रहा है और यह बहुत घृणित तुष्टीकरण है। डाक्ट जैण्डर ने और भी अच्छे ढंग से इसे 'असह्य स्थिति का सामना करने के लिए केवल दोषपूर्ण और कठोरता से भरा हुआ वाहियात तरीका' कहा है। अमेरिका ब्रिटेन पर उत्तरोत्तर दबाव डाल रहा था कि वह फिलिस्तीन में कहीं अधिक संख्या में यहूदियों को आने दे। अमेरिकी सरकार स्वयं अपने देश में अनिश्चित संख्या में यहूदियों को बसाने के लिए तैयार नहीं थी। बिल्टमूर (अमेरिका) में १९४२ में आयोजित एक यहूदी-सम्मेलन ने माँग की कि फिलिस्तीन को यहूदी कामनवेल्थ बना दिया जाय और वहाँ असीम संख्या में यहूदियों को जाने दिया जाय।

अमेरिका के दबाव और यहूदियों तथा अरबों के बीच शत्रुता से परेशान ब्रिटेन ने दो वर्ष में ६६ हजार यहूदियों को आने देने का निश्चिय किया। इससे अधिक लोगों को स्थान देने का अधिकार उच्चायुक्त की मर्जी पर छोड़ दिया गया। यहूदियों और अरबों दोनों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। यहूदी कहते थे कि यह बहुत कम है और अरब कहते थे कि यह संख्या बहुत अधिक है। इससे ब्रिटेन ने धनुष-बाण रख दिया और फरवरी १६४७ में संरक्षण-अधिकार से मुक्ति पाने की इच्छा घोषित की।

२६ नवम्बर १६४७ को राष्ट्रसंघ की महासभा ने फिलिस्तीन के विभाजन की योजना स्वीकार की, जिसे बाद में कार्यान्वित किया गया। फलस्वरूप फिलिस्तीन का एक भाग यहूदी राज्य बन गया और एक भाग अरब अधिकार में बना रहा। इस निर्णय के लिए राष्ट्रसंघ में दो-तिहाई बहुमत का होना जरूरी था। वस्तुतः ३३ राष्ट्रों ने विभाजन के पक्ष में और १३ ने विरोध में मत दिया। यह बहुत बड़ा बहुमत लगता है, किन्तु इसका यह अर्थ लगाना गलत होगा कि विश्व का मत यहूदी हित को बहुत न्यायपूर्ण मानता था।

> जैसा कि डाक्टर जैण्डर ने कहा है : "यहूदी राज्य बनाने के पक्ष में जिन ३३ राष्ट्रों ने मत दिया, उनकी कुल जनसंख्या लगभग ५६ करोड़ और जिन्होंने विरोध में मत दिया, उनकी जनसंख्या लगभग ४८ करोड़ है। लेकिन यदि इस दृष्टि से देखा जाय कि साढ़े बासठ करोड़ जनसंख्या के ११ राष्ट्रों ने इस मतदान में भाग नहीं लिया, तो स्पष्ट है कि विभाजन के पक्ष में केवल ३३·६ प्रतिशत ने मतदान किया, ३७·५ प्रतिशत मतदान से विरत रहे और २८·६ प्रतिशत ने विरोध किया। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि ४० करोड़ से अधिक जनता का (जिसमें उत्तरी अफ्रीका, बर्मा, मंचूरिया,

हिन्देशिया और जापान के लोग शामिल हैं) राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व नहीं था, तो प्रस्ताव के समर्थकों का अनुपात और भी कम हो जायगा।

"इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है दोनों पक्षों में जो लोग थे, उनका स्वरूप। नये यहूदी राज्य के सभी पड़ोसी राष्ट्र, जो मिस्र और इराक से लेकर भारत तथा यूनान और तुर्की से लेकर सऊदी अरब तक फैले हुए हैं, एक स्वर से विभाजन के विरोधी थे। जिन राष्ट्रों ने यहूदी राज्य के पक्ष में मत दिया, वे फिलिस्तीन से बहुत दूर हैं। बहुतों को इस मामले में बहुत थोड़ी सच्ची दिलचस्पी है और कुछ को कभी भी अपनी राय बदलने के लिए राजी किया जा सकता है। इसके विपरीत अरब देशों और उनके समर्थकों की भावना बहुत मजबूत है और उनमें से अधिकांश समझते हैं कि यह उनकी अपनी समस्या है।

"राजनीतिक प्रश्न से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिन राष्ट्रों ने विभाजन का विरोध किया, वे हृदय से विश्वास करते हैं कि वैधानिक और नैतिक अधिकार हमारे पक्ष में हैं और वर्तमान स्थिति में यहूदी राज्य की स्थापना कानून के विपरीत है तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता एवं विशिष्टता के मान्य सिद्धान्तों का उससे उल्लंघन होता है।"

डॉक्टर जैण्डर ने उपर्युक्त विचार दिसम्बर १९४७ में लिखे थे। विभाजन-योजना के अनुसार इजराइल का क्षेत्रफल ५६८७ वर्गमील होना था, किन्तु ब्रिटेन के एकाएक संरक्षक राष्ट्र के पद से हटते ही मई १९४८ में लड़ाई शुरू हो गयी। यहूदियों को अस्त्र-शस्त्र मिल रहे थे और उनमें ऐक्य था। किन्तु मार्च १९४५ में गठित अरब लीग के रहते हुए भी अरबों की स्थिति ऐसी नहीं थी। अरब देश किसी भी केन्द्रीय अधिकरण को अपना कोई मामला—विशेषतः परराष्ट्रनीति—सौंपने को तैयार नहीं हैं।

यह मनोवृत्ति उनके सहयोग और एकता में बाधक हुई है। फिलिस्तीन युद्ध का फल यह हुआ कि अरबों को एक के बाद एक बड़ा धक्का लगा, इसराइल का क्षेत्र बढ़कर ७८०० वर्गमील हो गया और शरणार्थियों की महान् समस्या सामने आयी। राष्ट्रसंघीय सहायता तथा निर्माण अभिकरण के आँकड़ों के अनुसार जून १९५९ में फिलिस्तीन से आये हुए ९,२२,२७९ अरब शरणार्थी ऐसे थे, जिन्हें अभिकरण राशन देता था। इन शरणार्थियों में से लगभग १,०२,६०० लेबनान, ९०,००० सीरिया, ५,१२,७०० जोर्डन और १७,००० गाजा क्षेत्र में रहते हैं। इनके अलावा मिस्र और इराक में कुछ हजार और पश्चिमी जोर्डन तथा गाजा में कई हजार ऐसे शरणार्थी भी रहते हैं, जिन्हें राशन की सहायता नहीं मिलती, किन्तु जिसकी उन्हें नितान्त आवश्यकता है।

स्थिति की गम्भीरता को इस बात से समझा जा सकता है कि गाजा क्षेत्र के लगभग तीन लाख निवासियों में केवल ४० हजार आत्मनिर्भर हैं और प्रति एक सौ मूल निवासी पर २२१ शरणार्थी हैं। शरणार्थियों में जन्मानुपात बहुत अधिक है, फलस्वरूप प्रतिवर्ष उनकी संख्या में २५ हजार (३ प्रतिशत) की वृद्धि हो रही है। राष्ट्रसंघ की महासभा ने कहा है कि जो शरणार्थी लौटना चाहें, उन्हें अपने घरों को वापस जाने दिया जाय। बहुत दबाव पड़ने पर इजराइल ने १९४९ में अधिक-से-अधिक एक लाख शरणार्थियों को वापस लेना स्वीकार किया। उनके लौटने से इसराइल में शरणार्थियों की संख्या ढाई लाख हो जाती। लेकिन वे लौटकर अपने घरों को नहीं जा सकते थे, जो नष्ट हो गये थे, बल्कि उन्हें उन क्षेत्रों में जाना पड़ता, जो उनके लिए इसराइल सरकार अपनी आर्थिक एवं सुरक्षा की स्थिति का ध्यान रखते हुए निर्धारित करती। अरबों ने इस प्रस्ताव को पूर्ण रूप से ठुकरा दिया। उनका कहना था कि सारे शरणार्थियों का जिम्मा इजराइल पर है। फलस्वरूप इसराइल ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। अपनी पुरानी स्थिति को न भूले हुए

यहूदी दुःखी शरणार्थियों के प्रति सहानुभूति न रखते हों सो बात नहीं; वे उदारतापूर्वक शरणार्थियों की सहायता करना चाहते हैं और जो शरणार्थी अपने परिवारों में लौटना चाहते हैं, उन्हें वापस लेने के लिए तैयार हैं, लेकिन जब तक इसराइल शत्रुओं से घिरा हुआ है और उसकी सीमा पर बराबर हमले होते रहते हैं, जब तक वह यह समझता है कि अनेक शरणार्थियों ने यहूदियों के प्रति घृणा का पाठ पढ़ लिया है, वह यह मानता है कि हमारा राष्ट्र अधिकांशतः शरणार्थियों का राष्ट्र है और हम स्वयं परेशानियों में हैं, तब तक इसराइली सरकार स्वभावतः १० लाख विरोधी और अभावग्रस्त अल्पसंख्यकों को अपने बीच खपा सकने में अपने को असमर्थ पाती है।

अरब देश भी इन शरणार्थियों को अपने बीच खपाने के लिए तैयार नहीं हैं। वे राज्य के रूप में इसराइल के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, न्याय का तकाजा है कि शरणार्थियों को अपने घर लौटने दिया जाय। इसराइल का आर्थिक पतन देखने के लिए वे अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हैं और सीमा पर बराबर शत्रुवत् व्यवहार करके प्रदर्शित करते रहते हैं कि हमारा क्षोभ आज भी बना हुआ है। रूस द्वारा मिस्र को सैनिक सामग्री दिये जाने की सम्भावना से डरकर इसराइल ने स्वेज-विवाद में ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मिस्र पर हमला किया। फलस्वरूप शरणार्थी समस्या जहाँ की तहाँ बनी हुई है।

यद्यपि यहूदियों और अरबों में जातीय दृष्टि से बहुत निकटता है, इसराइल अरब भूखण्ड में है और एक सीमा तक एशियाई राष्ट्र है, तथापि उसे पश्चिमी राष्ट्रों का पिछलग्गू समझा जाता है। यही कारण है कि उसे एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों के बांदुंग-सम्मेलन में आमंत्रित नहीं किया गया।

किन्तु इसराइल के यहूदी अपने राष्ट्र को किसीका पिछलग्गू नहीं

मानते, भले ही उनमें से बहुतों का राजनीतिक लगाव पश्चिम के साथ है। वे समझते हैं कि परमात्मा ने हमें अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चुना है। वे अकेले रहने के अभ्यस्त हो गये हैं। वे समझते हैं कि इसराइल में हमारी वापसी दो हजार वर्षों के परिव्रजन और उत्पीड़न की इति है। वे भविष्य में बहुत बड़ी आशाएँ देखते हैं। फिर भी उनका राष्ट्र धर्मनिरपेक्ष है, उनकी सरकार सैनिकों जैसी लड़ाकू सरकार है और सैनिक बल से ईंट का जवाब पत्थर से देने में विश्वास रखती है।

ऐसी स्थिति में पूर्ण न्याय कहाँ मिल सकता है? हिंसा, प्रतिहिंसा और विक्षोभ की नींव पर न्याय की स्थापना नहीं की जा सकती। अरबों ने माँग की थी कि विभाजन की वैधता का प्रश्न निर्णय के लिए विश्व-न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। अपने निर्णय की अनिवार्यता को चुनौती देने-वाली इस माँग को राष्ट्रसंघीय महासभा ने अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन ने १ मई १९४८ के पूर्व राष्ट्रसंघीय निरीक्षण समिति को फिलिस्तीन आने की अनुमति नहीं दी और इसराइल सरकार की स्थापना के ८ घण्टे बाद १५ मई १९४८ को ब्रिटेन के हट जाने से प्रशासनिक अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इन कारणों से संरक्षक-प्रशासन से विभाजन-प्रशासन में संक्रमण की व्यवस्था की निगरानी करने का राष्ट्रसंघीय प्रयास कहीं अधिक कठिन हो गया। १५ मई १९४८ को ब्रिटेन के हटते ही लड़ाई शुरू हो गयी।

१९५० की त्रिदलीय घोषणा द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने अरब-इसराइल संघर्ष रोकने का जो प्रयास किया, उससे कुछ राहत मिली; किन्तु दीर्घकालिक नीति की दृष्टि से आधुनिक संसार के सन्दर्भ में इसका कोई महत्त्व नहीं था। शायद इस प्रयास के पीछे ऐसा उद्देश्य भी नहीं था।

इस घोषणा के दो लक्ष्य थे। पहला उद्देश्य यह था कि दोनों पक्षों को युद्धास्त्रों की सप्लाई कम-से-कम की जाय, जो तभी सम्भव था, जब अस्त्र-शस्त्रों पर केवल पश्चिमी राष्ट्रों का ही एकाधिकार होता। दूसरा उद्देश्य

यह था कि इसराइल और अरब राज्यों के संघर्ष को पश्चिमी राष्ट्र 'संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और राष्ट्रसंघ के बाहर दोनों क्षेत्रों में' तत्काल संयुक्त कार्रवाई करके रोकें। इस पर सोवियत रूस और एशियाई राष्ट्रों की जो प्रतिक्रिया हुई, वह तो अलग, ब्रिटेन के हस्तक्षेप के प्रश्न पर स्वयं ब्रिटेन के भीतर और राष्ट्रसंघ में भी भारी मतभेद हो गया।

त्रिदलीय घोषणा में जो दिलचस्प बातें हैं, वे हैं उसमें निहित स्वीकारोक्तियाँ। पहली बात यह है कि देशों का कम शस्त्रीकरण होने पर संघर्ष की सम्भावनाएँ कम रहती हैं। यह पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा अपनी प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में अपनायी जानेवाली 'शक्ति से वार्ता' की नीति के बिलकुल विपरीत है। दूसरी बात यह है कि युद्ध का सूत्रपात न होने देना युद्ध शुरू करने की जिम्मेदारी का पता लगाने की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि उनकी सहज प्रतिक्रिया उस माँ की तरह है, जो अपने दो बच्चों को लड़ते देखकर इस बात की तह में नहीं जाती कि झगड़ा किसने शुरू किया, और दोनों को लड़ने से रोकती है।

अधिक शस्त्रीकरण युद्ध को रोकता है, इसलिए अपना उद्जन बम रखने के लिए ब्रिटेन का संकल्प शान्ति में योगदान करनेवाला है, इस दलील की कमजोरी की स्पष्ट झलक अरब-इसराइल विवाद में मिलती है। क्या हम कभी सोच सकते हैं कि यहूदियों और अरबों दोनों के पास पारमाणविक अस्त्र होने पर मध्यपूर्व में युद्ध की सम्भावना कम हुई होती? या हम ऐसा मानते हैं कि पश्चिमी राष्ट्र ही नहीं, बल्कि सोवियत रूस में भी यह समझने की नैतिक चेतना और सामान्य बुद्धि है कि जो बात हम पर लागू है, वह अरबों और यहूदियों पर नहीं लागू होती?

हम दूसरों के लिए जो दवा निर्धारित करते हैं, उसे स्वयं लेने में हमें एतराज क्यों है?

● ● ●

दसवाँ अध्याय

इतिहास बताता है कि जिन झगड़ों का निपटारा एक समय असम्भव प्रतीत होता है, वे झगड़े धीरे-धीरे स्वयं शान्त हो जाते हैं; लेकिन ऐसा तभी होता है, जब समझौते के फलस्वरूप या लड़ते-लड़ते थक जाने से संघर्ष बन्द हो गया हो। इसराइल-अरब-विवाद मूलतः प्रादेशिक प्रभुसत्ता का संघर्ष है। जैसे-जैसे समय बीतता जायगा और दूसरे राष्ट्र विवाद को तूल न देंगे, वैसे-वैसे इस तरह के झगड़े स्वयं ठण्डे पड़ जायेंगे। मेरे इस कथन का यह मतलब नहीं है कि सच्चे अर्थों में वस्तुनिष्ठ और विश्वासप्राप्त विश्व-न्यायालय के निर्णय का कोई मूल्य न होगा। इसके विपरीत जब तक राष्ट्रीय सैनिकवाद का अस्तित्व है और जब तक अधिक शक्तिशाली राष्ट्र शक्तिप्रधान राजनीति का सहारा लेते हैं, तब तक विश्व-न्यायालय का ऐसा निर्णय नये आक्रमणों का बहाना बन जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं लड़ाइयों और उनके साथ लगे हुए आम सैनिक भरती, सैनिक अभियान, सैनिक व्यय जैसे पुछल्लों को मानवता के विरुद्ध असाधारण अपराध माना जाय।

यदा-कदा अपराध विकृतमस्तिष्क व्यक्ति ही करते हैं। मानसिक दृष्टि से अपरिपक्व राष्ट्र द्वारा किये जानेवाले सिरफिरे हमले इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। युद्ध विरोधी तरुणों से न्यायाधिकरणों द्वारा जो प्रश्न किये जाते हैं, उनमें एक बहु-प्रचलित प्रश्न है : "तुम कैसे समझते हो कि हिटलर का सामना युद्ध के अलावा और भी किसी साधन से किया जा सकता था ?" १९३९ के पहले की घटनाओं का कोई भी जिक्र अप्रासंगिक एवं सारहीन ठहरा दिया जाता है। प्रश्न यह होता है कि किन्हीं भी गलतियों के कारण जब एक बार यह स्थिति आयी कि नाजी जर्मनी ने युद्ध छेड़ दिया, तब उसे

अभ्याक्रमण की नीति और क्षेत्र विस्तार से विरत करने का साधन युद्ध के अलावा और हो ही क्या सकता था ! क्या हमसे यह गलती नहीं हुई थी कि हम तुरन्त स्थिति को समझ नहीं सके, हिटलर को उसकी निश्चित पराजय की चेतावनी देने के लिए हमने तेजी से अस्त्र-शस्त्र नहीं बढ़ाये और हम करीब-करीब हार चुके थे ! यह बहुत उचित प्रश्न है, हालाँकि उस परेशान तथा अनुभवहीन युवक के लिए यह सरल नहीं है, जिसे अपने जन्म के पूर्व की घटनाओं के बारे में एक या दो वाक्य में उत्तर देना होता है।

इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि शक्ति का समुचित प्रदर्शन उस समय हिटलर को और अधिक अभ्याक्रमण से रोक सकता था, किन्तु यहूदियों, कम्युनिस्टों तथा दूसरे शान्तिवादियों को वह बन्दी शिविरों में बन्द और बर्बाद किये जाने से न बचा पाता और न वह जर्मनी के हृदय से युद्ध की भावना को ही दूर कर पाता। हमारे युग में ही अमेरिकी परमाणु बम साइबेरिया से रूसी राजनीतिक बन्दियों को वापस नहीं करा सके और युद्ध-समाप्ति के आठ वर्ष बाद भी न जर्मन युद्धबन्दियों की वापसी ही करा पाये। शीतयुद्ध में तभी कुछ कमी आयी और परमाणु तथा उद्जन अस्त्रों का आविष्कार करने से इनकार करने के कारण गिरफ्तार तथा अपमानित डॉक्टर पीटर कपित्जा मास्को की भौतिक अनुसन्धानशाला के डाइरेक्टर के पद पर तभी पुनर्प्रतिष्ठित किये गये* जब रूस ने भी परमाणु तथा उद्जन बम बना लिये और स्तालिन की मृत्यु हो गयी। यह सिद्ध करता है कि स्तालिन के रूस में भी आत्मा के आदेश के अनुसार आपत्ति करनेवाले लोग रहे हैं।

यह ठीक है कि हिटलर की पराजय और मृत्यु युद्ध के द्वारा ही उसी प्रकार हुई, जिस प्रकार जर्मनी में बढ़ती हुई युद्ध-भावना के कारण उसका उदय और उसके उदय से युद्ध-भावना का प्रसार हुआ था। यह

---

* साइंस, खण्ड १२४। १९५६। पृष्ठ ३६१।

ऐसा युद्ध था, जिसमें अकेले हिटलर ही नहीं मारा गया, बल्कि उसके साथ युद्धरत देशों के दो करोड़ पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे भी मारे गये, जिसने जर्मनी को तो हराया, किन्तु उसका फिर शस्त्रीकरण किया, जिसने प्रथम परमाणु बम का सृजन किया, जिसने बहुत बड़ी शरणार्थी समस्या को जन्म दिया और जिसने ब्रिटेन की आर्थिक शक्ति को इस प्रकार घटा दिया कि वह उत्तरोत्तर द्वितीय श्रेणी की शक्ति होता जा रहा है। इसीने फिलिस्तीन और कोरिया के युद्धों का भी बीजारोपण किया और शायद भावी युद्धों के लिए भी बीज बो दिया है।

मैं नहीं जानती कि जर्मनी को विश्व का स्वामी बनाने की हिटलर की आकांक्षा को रोकने के लिए राजनीतिक दृष्टि से और कोई सरल साधन हो सकता था। इस बात में तो मुझे और भी अधिक सन्देह है कि विश्व-न्यायालय की कोई घोषणा हिटलर को युद्ध करने से रोक पाती। मैं इस बात को भी नहीं मानती कि मित्रराष्ट्रों के पास (उदाहरण के लिए) १६३८ में परमाणु बम होने पर हिटलर को उतने समय से अधिक तक युद्ध से रोका जा सकता था, जितने समय में जर्मन वैज्ञानिक और इंजीनियर भी परमाणु बम बनाना न जान लेते। मेरा विश्वास है कि उसके पास परमाणु बम होते, तो वह उनका प्रयोग भी करता।

दूसरे शब्दों में राजनीतिक दृष्टि से मेरा पक्का विश्वास है कि १६३६ में जो कुछ हुआ या हो सकता था, वह अब बिल्कुल अप्रासंगिक है। यह बिल्कुल अप्रासंगिक उस अर्थ में है, जिस अर्थ में सामान्यतः व्यापक सैनिक भरती और दूसरी बड़ी तैयारियों की बात के लिए दलीलें दी जाती हैं। यदि भविष्य में परमाणु तथा उद्जन अस्त्रों से सुसज्ज संसार में कोई सिरफिरा आक्रमणकारी हो जाय, तो वह संसार को और उसके साथ-साथ अपने राष्ट्र को ही नष्ट कर देगा और उसे किसी चमत्कार के सिवा और कोई भी ऐसा करने से न रोक सकेगा। ऐसा होने पर परमात्मा ही हमारी

रक्षा करे। निरस्त्र संसार में ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे सिरफिरे लोग शस्त्रों से सुसज्ज संसार में ही पैदा होते हैं।

यदि भविष्य में पारमाणविक युद्ध होता है, तो अधिक सम्भावना यही है कि उसका सूत्रपात अभ्याक्रमण से नहीं, प्रतिरक्षा से होगा। उसका सूत्र-पात उन्माद नहीं, भय की भावना करेगी। मुझे उस संसार के लिए कोई आशा नहीं दीखती, जो अच्छे हेतु के नाम पर युद्ध को अब भी साधन मानता है और किसी भी हेतु के लिए किये जानेवाले युद्ध को अपराध नहीं समझता। वास्तविक खतरा सत्ता के भूखे तानाशाहों से नहीं है; वे खतरनाक तो होते ही हैं; खतरा इस बात से है कि तानाशाह और लोक-तांत्रिक सरकारें दोनों ऐसे लोगों पर निर्भर हैं, जो युद्ध को भयानक तो मानते हैं, लेकिन उसकी सम्भावना समझते हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषों से है, जिन्होंने बुराई के लिए 'नहीं' कहना नहीं सीखा, किसीके प्राण लेने के बजाय स्वयं अपना प्राण देना नहीं सीखा या जो समाज को किसी भी प्रकार की गलती करने में सहायता देते हैं।

अतः मुझे ऐसा लगता है कि न्यायाधिकरण के सामने युद्धविरोधी तरुण का सर्वाधिक उपयुक्त उत्तर यही होगा कि यदि जर्मनों ने दूसरों का प्राण लेना न सीखा होता, तो हिटलर को कोई सत्ता ही न मिली होती, यदि हम युद्ध के साधनों को समाप्त करना नहीं सीखते, तो भविष्य में होने-वाले हिटलर संसार को ही नष्ट कर देंगे, हमें चाहिए कि हम लोगों को युद्ध की शिक्षा देने के बजाय युद्ध का सहारा न लेने की शिक्षा दें। मेरा पक्का विश्वास है कि ऐसा हृदय-परिवर्तन तभी हो सकता है, जब युद्ध को बुरा समझनेवाले लोग अपनी अवज्ञा के राजनीतिक प्रभाव की चिन्ता किये बिना स्वयं युद्ध में भाग न लें और युद्ध के कारणों का अन्त करने में दूसरों को योग दें। उन्हें निष्पक्ष एवं ईमानदार विश्व-न्यायालय के प्रति, जिसके समक्ष संसार के राष्ट्रों अथवा सरकारों के विवाद निर्णय के लिए प्रस्तुत किये जा सकें, सम्मान की भावना तैयार करने में भी योग देना चाहिए।

बिना घुटना टेके या बिना हिंसा किये अभ्याक्रमण और दमन का सामना कैसे किया जा सकता है, इसे सीखने में उन्हें दूसरों की सहायता करनी चाहिए।

मैं खूब अच्छी तरह समझती हूँ कि यह बहुत बड़ा कार्यक्रम है, इसके लिए हमें अपने विचार और व्यवहार में क्रान्ति करनी पड़ेगी, इसमें समय लगेगा और समय बहुत थोड़ा है। जो लोग उद्जन बम में यह समझकर आस्था रखते हैं कि वह युद्ध रोकता है, वे गलती पर हैं। उद्जन बम छोटी लड़ाइयों और आन्तरिक विद्रोहों को नहीं रोक सकता। छोटी लड़ाइयाँ और आन्तरिक विद्रोह हुए भी हैं। इन युद्धास्त्रों के कारण राजनीतिज्ञ आगा-पीछा जरूर सोचेंगे और शायद इसीसे डलेस कई बार युद्धरूपी कगार पर आकर भी छलाँग नहीं लगा सके। इस दृष्टि से हो सकता है कि उद्जन बम ने बड़ा युद्ध होने से रोका हो, किन्तु निश्चित रूप से उसीने युद्ध रोका, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सच्ची बात यह है कि उद्जन बम युद्ध रोकने का नैतिक दृष्टि से गलत साधन है। नैतिक दृष्टि से गलत इसलिए कि वह न्याय के बजाय डर पर विश्वास करता है, सद्भाव के बजाय धमकी का सहारा लेता है, मित्रता के बजाय घृणा पैदा करता है और जो व्यक्ति, वस्तुएँ तथा द्रव्य वर्तमान कठिनाई, अज्ञान तथा अभाव को दूर करने के लिए हैं, उनका दुरुपयोग करता है।

यदि इन सब तथ्यों के बावजूद यदि उद्जन बम ही एकमात्र ऐसा साधन हो, जो युद्ध होने से रोक सकता है, तो भी उद्जन बम में आस्था रखनेवालों को हमारे विचार और व्यवहार में क्रान्ति के लिए प्रयास करना चाहिए, ताकि स्वयं युद्ध की भावना ही समाप्त हो जाय। उन्हें इस कार्य को भविष्य का आदर्श नहीं, बल्कि तात्कालिक आवश्यकता समझना चाहिए। उन्हें सारे संसार के किशोरों को ऐसी शिक्षा देने का तरीका ढूँढ़ना चाहिए कि वे युद्ध को अपराध मानें—भले ही इस दृष्टि से अपराध मानें कि उद्जन बम हमेशा शान्ति नहीं रख सकता। यदि कोई राष्ट्र

अपना विवेक इस सीमा तक खो बैठे कि जीवन-स्तर गिरने की अपेक्षा आत्मघात करने में कम भय समझे, तब वह अपने जीवन-स्तर के लिए खतरा होने पर युद्ध का जोखिम भी उठा सकता है। निर्धन राष्ट्र जैसे-जैसे शक्तिशाली होते जायेंगे, वैसे-वैसे धनी राष्ट्रों के जीवन-स्तर के लिए निस्सन्देह रूप से खतरा होगा। न्यष्टि शक्ति की सहायता से भी पाँच अरब व्यक्ति पश्चिमी स्तर पर आराम का जीवन बिता सकें, सामग्री एवं साधन को देखते हुए यह सम्भव ही नहीं है। विश्व की जनसंख्या इससे कम पर स्थिर नहीं हो सकती और कम-से-कम अगली एक या दो शताब्दी तक तो स्थिर नहीं ही हो सकती।

इस समय बहुत से लोगों को मुख्यतः जो चिन्ता है, वह युद्ध के साधनों के उन्मूलन या मानव के बड़े अभावों को दूर करने की चिन्ता नहीं है; बल्कि अपने को नापसन्द लगनेवाली प्रशासनिक तथा आर्थिक प्रणाली को खतम करने की चिन्ता है। उनकी भावना अच्छी और बुरी दोनों है। वे कम्युनिस्ट व्यवस्था में जबरन श्रम करानेवाले शिविर रखे जाने के विरोधी हैं या पूँजीवादी व्यवस्था में उपनिवेशों के शोषण 'का विरोध करते हैं। उन्हें डर है अपने देश पर नृशंस आक्रमण का या अपने जीवन-स्तर में गिरावट आने का। अमेरिका में मेरी ऐसे ईसाइयों से मुलाकात हुई है, जो समझते हैं कि कम्युनिज्म दानव की कृति है। आश्चर्य की बात यह है कि परमात्मा में आस्था रखने के बावजूद वे सोचते हैं कि यदि कम्युनिस्ट व्यवस्था को आक्रमण करके नष्ट नहीं किया जाता, तो विजय दानवीय शक्ति की ही होगी। मैं इस तोड़े-मरोड़े विश्वास को समझ नहीं सकी। मैं कभी भी यह नहीं विश्वास कर पाती कि युद्ध परमात्मा के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है या कम्युनिज्म सोलहो आने बुरा है। जो लोग इन दोनों बातों में विश्वास करते हैं, वे गल्ती पर हैं। ऐसे लोग ब्रिटेन में भी हैं।

रूस और चीन तथा अन्य कम्युनिस्ट देशों में भी मैं ईसाइयों से

मिली। वे अपने देश में होनेवाले गलत कार्यों की हिमायत न करते हुए भी ऐसा समझते हैं कि कम्युनिज्म प्रभावशाली एवं सक्षम राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था है और उसमें नैतिकता के उच्च तत्त्व हैं। इसके साथ ही पश्चिमी राजनीतिज्ञों के भाषणों तथा प्रचारों के कारण उनका पक्का विश्वास है कि यदि मुकाबला न होने की जरा भी गुंजाइश हुई, तो अमेरिका उन पर हमला कर देना चाहेगा।

इस तरह के विवाद में विश्व-न्यायालय क्या कह सकता है ? यदि जर्मनी के विभाजन के प्रश्न पर उससे निर्णय करने के लिए कहा जाय, तो इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि जनता द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त की गयी इच्छा ही न्याय का आधार होगी, किन्तु तब क्या ब्रिटेन साइप्रस के लिए भी ऐसा प्रयोग स्वीकार करेगा ? जिस मार्शल द्वीप में अमेरिका और ब्रिटेन के हित हैं, क्या वहाँ के निवासियों की इच्छा पर ध्यान दिया जाता है ?

अमेरिका और सोवियत रूस के बीच युद्ध होने का खतरा कम हो गया प्रतीत होता है, हालाँकि जब तक दोनों देश शस्त्रास्त्रों से सुसज्ज हैं, तब तक यह खतरा पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सकता। फिर भी दोनों देश एक-दूसरे की सरकार उखाड़ फेंके जाने या दूसरे राष्ट्रों पर प्रभाव समाप्त होने पर खुश होंगे। दोनों देश गुप्तचरों, विध्वंसकों या आन्दोलन-कारियों के प्रवेश की सम्भावना से डरते हैं।

हम इस बात पर गर्व अनुभव करते हैं कि हमारे पूर्वजों ने 'मे फ्लावर' (जलयान) से स्वतन्त्र होने के लिए यात्रा की। पारपत्र (पासपोर्ट), अनुवेशपत्र (विसा) या अनुमतिपत्र (परमिट) के बिना आज कोई व्यक्ति स्वतन्त्र होने के लिए यात्रा करे, तो वह परेशानी का शिकार हो जायगा। अमेरिका में यह संकीर्णता विशेष रूप से है (क्योंकि यहाँ के अनेक लोग रूस में किसी प्रकार की स्वतन्त्रता की आशा नहीं करते)। व्यवसायियों या अवकाश मनानेवालों के सिवा और लोगों के अमेरिका में या अमेरिका के

बाहर जाने में कठिनाई है। अब तो ब्रिटेन में भी प्रवेश पाना बहुत कठिन हो गया है। एक अमेरिकी शान्तिवादी ने, जो अन्याय का सामना करने के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध के गांधीवादी सिद्धान्त में विश्वास करता है, जो आत्मा के आदेश का पालन करने के कारण दण्डित हो चुका है, हाल ही में विभिन्न शान्ति-आन्दोलनों का अध्ययन करने के लिए एक मास तक ब्रिटेन में रहने का निश्चय किया। आप्रवास अधिकारियों को उसे ढाई घंटे तक यकीन दिलाना पड़ा कि उससे कोई खतरा नहीं है। तलाशी लेने पर अधिकारियों को उसके कागजपत्रों में मेरा नाम भी मिला, लेकिन इससे भी उन्हें यकीन नहीं हुआ। उन्होंने शायद यह समझा कि यह भेड़ की खाल ओढ़े हुए कोई भेड़िया है, झूठा बहाना बनाकर कोई कम्युनिस्ट यात्रा कर रहा है। मैं समझ नहीं पाती कि किसी अच्छी सरकार और सन्तुष्ट जनता को कम्युनिस्ट एजेण्टों से क्या डर हो सकता है।

जब तक सैनिक तैयारियाँ होती रहेंगी, तब तक निश्चय ही गुप्तचर और भेदिये रहेंगे। जब तक परस्परविरोधी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, तब तक दोनों ओर से एक-दूसरे की जड़ कमजोर करने की कोशिश होगी। यदि मूल में धार्मिक मतभेद या आर्थिक हित होंगे, तो यह प्रवृत्ति और भी प्रबल होगी। अच्छे आदर्श की शक्ति की तरह नैतिक या वैधानिक दृष्टि से उचित समझे जानेवाले अनुनय अथवा प्रचार और विद्रोहियों को चोरी से हथियार पहुँचाने या तोड़-फोड़ के प्रोत्साहित करने के अवैध कार्यों में बहुत भारी अन्तर है। अच्छे और बुरे का भेद करने में प्रवृत्ति भी बहुत काम कर सकती है। उदाहरण के लिए, खाद्य पदार्थों के उन पार्सलों के विषय में क्या कहा जाय, जो पूर्वी जर्मनी की जून १९५३ की अशान्ति के बाद पश्चिमी जर्मनी में खुलेआम इस आमन्त्रण के साथ भेजे गये कि पूर्वी जर्मनी के लोग आयें और इन पार्सलों को ले जायँ? करीब-करीब उसी समय मैं बर्लिन के दोनों क्षेत्रों की यात्रा कर रही थी। किसीको भी इस बात में सन्देह नहीं था कि अमेरिका के इस कार्य में सच्ची करुणा

की नहीं, बल्कि चतुरतापूर्ण प्रचार की भावना है। फलस्वरूप पूर्वी बर्लिन के अनेक कट्टर कम्युनिस्ट-विरोधी ईसाइयों ने यह समझकर इन पार्सलों को लेने से इनकार कर दिया कि इनके पीछे जो नीयत है, वह अच्छी नहीं है। दूसरे लोगों ने सोचा कि अमेरिकी लोग जो करते हैं, उसके पीछे कोई न कोई बात जरूर रहती है, यह कारंवाई शीतयुद्ध का अंग हो, तो भी बम की अपेक्षा खाद्यान्न अच्छा है।

इस सारे मामले में यथार्थ में जो सबसे वाहियात बात थी, वह यह कि पूर्वी बर्लिन के रेस्तराँ और होटलों में पश्चिमी बर्लिन के नागरिकों की भीड़ लगी रहती थी। उनके ऐसा करने का कारण विनिमय की बहुत ऊँची दर थी। जर्मनी के दोनों भागों में यद्यपि तनख्वाहों और कीमतों में बहुत फर्क नहीं था, किन्तु पश्चिमी जर्मनी का एक मार्क पूर्वी जर्मनी के पाँच मार्क के बराबर होता था और अभी भी होता है। इससे पश्चिमी मार्क की कीमत पूर्वी बर्लिन में पश्चिमी बर्लिन की पाँच गुनी हो जाती थी। किन्तु पूर्वी बर्लिन के लोगों को सन्तरे, केले और विदेशी मुद्रा से खरीदे जानेवाले खाद्य पदार्थ कभी भी नहीं मिलते थे।

उसी समय मैंने अनुभव किया और आज भी अनुभव करती हूँ कि संसार के देशों को कोई ऐसी मुद्रा-प्रणाली या विनिमय-व्यवस्था निश्चित करनी चाहिए, जिससे मूलभूत न्याय हो सके। जब तक यह नहीं होता, तब तक मैं यह नहीं समझ सकती कि अनुचित असमानताएँ, असन्तोष के कारण, तोड़-फोड़ और अपराध कैसे रुक सकते हैं। मूलभूत न्याय से मेरा मतलब यह है कि एक स्त्री या पुरुष, जो विश्व के किसी भी भाग में दिन-भर काम करे, उसका जीवन-स्तर गुटबाजी की राजनीति पर आधृत वस्तु-विनिमय की कृत्रिमता से प्रभावित न हो। शिलिंग चाहे स्काटलैण्ड के एक खेतिहर मजदूर की जेब से आये, चाहे लंकाशायर के एक मिल कर्मचारी की जेब से, उसकी क्रय-शक्ति एक ही रहती है। यदि जर्मनी का एकीकरण

हो जाय, तो एक घण्टे के श्रम से प्राप्त होनेवाली रकम चाहे पूर्वी जर्मनी में खर्च की जाय, चाहे पश्चिमी जर्मनी में, उसकी क्रय-शक्ति एक ही होगी।

जर्मनी के इस कृत्रिम व्यवधान से इतना बड़ा अन्तर कैसे हो सकता है, इसे विपणन-मूल्य के आधार पर समझाया जा सकता है, लेकिन यह वाहियात है, यह गलत है; क्योंकि इससे बहुत अन्याय होता है।

जिस समय मैं बर्लिन में थी, उस समय वहाँ शीतयुद्ध का एक रूप प्रबलता पर था; शरणार्थियों के झुण्ड के झुण्ड पूर्वी बर्लिन से पश्चिमी बर्लिन में आ रहे थे। उस समय लगभग पाँच सौ व्यक्तियों का प्रतिदिन आगमन होता था। पश्चिमी बर्लिन से पूर्वी बर्लिन जानेवालों की संख्या बहुत ही मामूली थी। पूर्वी जर्मनी की एक चिन्ता यह है कि उसके प्रशिक्षित वैज्ञानिक और प्राविधिज्ञ पश्चिमी जर्मनी में चले जा रहे हैं। यह चिन्ता इतनी बड़ी है कि कुछ समय से ऐसे लोगों को छूट दे दी गयी कि वे लौट आयें, तो उन्हें दण्ड न दिया जायगा। रूस की ही तरह पूर्वी जर्मनी में भी वैज्ञानिक विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग में हैं।

शरणार्थियों को वस्तुतः प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, क्योंकि वे भार बन सकते हैं और उनके रूप में गुप्तचर और भेदिये भी आ सकते हैं। लेकिन उन्हें अनुत्साहित भी नहीं किया जाता, क्योंकि शरणार्थी के रूप में प्रतिभाशाली लोग भी आते हैं। इससे भी बढ़कर बात यह है कि चूँकि वे लोग ऐसी राजनीतिक प्रणाली से ऊबकर आते हैं, जो शरण देनेवाले देश में बुरी समझी जाती है, इसलिए उस अप्रिय राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध उन्हें उपयोगी यंत्र समझा जाता है। लेकिन १९५३ में बर्लिन में ऐसे लोगों की यह मुक्ति-यात्रा इतनी आसान नहीं थी। उनके प्रवेश की अनुमति से सम्बद्ध कागजपत्रों की करीब २९ भिन्न-भिन्न आफिसों में जाँच की जाती थी और प्रत्येक आफिस में उन कागजपत्रों पर मुहर लगायी जाती थी। हंगरी से आनेवाले शरणार्थियों के लिए जरूर ढिलाई है।

मेरी बर्लिन-यात्रा का उद्देश्य क्वेकरों के एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में

भाग लेना था, जो पूर्वी जर्मनी के क्वेकरों की सहायता से बुलाया गया था और जिसमें हमें कम्युनिस्टों द्वारा संचालित शान्ति-आन्दोलनों के सम्बन्ध में अपने अनुभवों पर विचार-विमर्श करना था। इस विचार-विमर्श से एक बात साफ जाहिर हुई कि रूसी नागरिकों के सम्पर्क से जो लोग जितनी ही अधिक दूर के रहनेवाले हैं, उनमें इन आन्दोलनों की विशुद्धता के प्रति उतना ही सन्देह है।

दो वर्ष बाद १९५५ में जब मैं चीन में थी, मुझसे चीनी ईसाइयों ने पूछा कि विश्व-शान्ति परिषद् के कार्य के प्रति ब्रिटेन के ईसाइयों की क्या प्रतिक्रिया है। मैंने उनसे ईमानदारी के साथ साफ-साफ कह दिया कि बहुत से ईसाई विश्व-शान्ति परिषद् और उसकी समितियों से सहयोग कर सकते हैं और करते हैं, तथापि अनेक ईसाई सरकार के इस मत से सहमत हैं कि कम्युनिस्टों द्वारा संचालित आन्दोलन नैतिक के बजाय राजनीतिक हैं और शायद दिखावटी तथा बहुत विध्वंसक भी हैं। ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है, इस प्रश्न को हम यहीं छोड़ देते हैं। शान्ति-आन्दोलन भी विध्वंसक हो सकता है या विध्वंसक समझा जा सकता है, यह बात प्रकट करती है कि विश्व की रक्षा के लिए आवश्यक पूर्ण वैचारिक परिवर्तन लाने में कितनी कठिनाई है। कभी न कभी हमें एक साथ होना ही पड़ेगा, उनसे भी मेल करना पड़ेगा, जिनकी शासन-प्रणाली हमें पसन्द नहीं है। इस स्थिति में हमें शान्ति के लिए—ऐसी शान्ति के लिए, जिसका रूप प्रचारवादी न होगा—गम्भीरता से वार्ता करनी पड़ेगी, क्योंकि हम ऐसा न करेंगे, तो एक साथ बर्बाद हो जायेंगे।

युद्धास्त्र जिस प्रकार भस्मासुरी रूप लेते जा रहे हैं, उसे देखते हुए राष्ट्रों को ठिकाने पर लाने के लिए पुलिस कार्रवाई के रूप में सैन्यशक्ति का उपयोग स्वभावतः अव्यवहार्य होता जा रहा है। यह एक अपरिहार्य प्रवृत्ति है, फिर चाहे यह अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के विरोध में काम करे या पक्ष

में। इसके साथ ही कुछ अंश तक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के प्रसार से सरकारें विश्व की आँखों में अपने को ठीक से व्यवहार करता हुआ दिखाना चाहती हैं। पूर्ण रूप से आवश्यकता इस बात की है कि जिस स्थिति में एक 'अपराधी' राष्ट्र पर अभियोग लगाने से विश्व का विनाश हो सकता है, उस स्थिति के आने के पहले ही हमें सैनिक शक्ति की पूर्ण समाप्ति करने के लिए समझौते का प्रयास करना चाहिए और विश्व में ऐसा जनमत तैयार करना चाहिए, जो सामूहिक एवं संगठित हिंसा का तिरस्कार तथा भर्त्सना करे।

किन्तु इसके साथ ही अधिक सम्पन्न एवं शक्तिशाली देशों में रहनेवाले हम लोगों को यह भी समझना चाहिए कि इसका अर्थ निश्चित रूप से शक्तिप्रधान राजनीति और इस समय सुलभ हो रही भौतिक सुविधाओं का परित्याग होता है।

● ● ●

ग्यारहवाँ अध्याय

राष्ट्रसंघ के निरस्त्रीकरण-आयोग और उसकी उपसमितियों की बराबर हो रही बैठकों के बावजूद इस समय यह आशा बहुत कम है कि समझौते से पूर्ण या आंशिक निरस्त्रीकरण हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्शों में पूर्ण तथा सार्वदेशिक निरस्त्रीकरण का विधिवत् प्रस्ताव केवल एक बार किया गया। १९२७ में लिटविनोव ने प्रस्ताव किया कि चार वर्ष की अवधि में धीरे-धीरे सभी राष्ट्र एक साथ भूमि-सेनाएँ, नौसेनाएँ तथा नभ-सेनाएँ समाप्त कर दें। इस पर जब फ्रांस ने यह आपत्ति की कि इस प्रकार का समझौता सुरक्षा की कोई गारण्टी न देगा, तब लिटविनोव ने ६३ अनुच्छेदों के एक समझौते का प्रारूप प्रस्तुत किया, जिसमें निरस्त्रीकरण के निरीक्षण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण और एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण-आयोग की स्थापना की व्यवस्था थी।

इस योजना को अस्वीकार करने के जो कारण प्रस्तुत किये गये, उनमें से एक कारण यह भी था कि यदि राष्ट्रों को पूर्णतः निरस्त्र कर दिया जायगा, तो उपनिवेशों की जनता विद्रोह कर देगी। यह बात आज की स्थिति में अवश्य सच हो सकती है। आधुनिक युग के सन्दर्भ में यह शस्त्रीकरण का बहाना नहीं बन सकता। यह ऐसा बड़ा कारण है, जिसे देखते हुए उपनिवेशवाद को जल्दी-से जल्दी समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उपनिवेशवाद के अन्तर्गत मैं अनिच्छुक लोगों पर लादी गयी पूर्वी जर्मनी या साइप्रस की तरह की सभी सरकारों को रखती हूँ। इन देशों की जनता क्या अपनी सरकार चाहती है और क्या वस्तुतः इसके लिए वह तैयार है, इसे जानने का एक तरीका यह हो सकता है कि राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में

इन देशों में मतदान कराया जाय। लेकिन यह ध्यान रखने की बात है कि अपनी सरकार अक्षम होने के बावजूद पसन्द की जायगी और ऊपर से लादी गयी सरकार के मुकाबले में उसे प्राथमिकता दी जायगी। आज की आधुनिक शिक्षा में, जिसमें आत्म-अनुशासन की व्यावहारिक प्रशिक्षा दी जाती है और ऊपर से लादा गया अनुशासन किंचिन्मात्र नहीं चलता, वस्तुतः यही सिद्धान्त अपनाया जाता है। गोल्डकोस्ट (घाना) और नाइजीरिया जैसे राष्ट्रों की प्रगति ने दिखा दिया है कि चाह हो, तो कुछ भी किया जा सकता है। यदि हमारे कुछ राजनीतिक नेताओं की चली होती, तो भारत आज की तरह गांधीजी और नेहरूजी के नेतृत्व में शान्ति की महान् शक्ति बनने के बजाय इस समय भी सैनिक शासन के दबाव में उपनिवेश ही रहा होता।

उपनिवेशों को तेजी से आत्मनिर्णय का अधिकार देने के विरुद्ध प्रबल औद्योगिक दबाव डाला जायगा, यह भी निश्चित है। आत्मनिर्णय अधिकार की चरितार्थता के फलस्वरूप यदि शिक्षा, राजमार्ग, बाँध और पुल निर्माण तथा सामाजिक आवश्यकताओं के पूर्तिसम्बन्धी कार्यों से ब्रिटिश विशेषज्ञ हटते हैं और आर्थिक सहायता बन्द होती है, तो उपनिवेशों को बहुत बड़ा नुकसान उठाना पड़ेगा। किन्तु हमें यह भी न भूलना चाहिए कि अदन में १२० वर्ष से ब्रिटिश शासन रहने के बावजूद आज भी ७९ प्रतिशत लोग निरक्षर हैं।*

हमें यह भी न भूलना चाहिए कि आज उपनिवेशों से ब्रिटेन को जितना मिल रहा है, वह उससे कहीं अधिक है, जो ब्रिटेन उपनिवेशों को देता है। १९५५ में उपनिवेशों के विकास एवं कल्याण के लिए १ करोड़ ६० लाख पौण्ड की रकम निर्धारित की गयी थी, जो उन क्षेत्रों के लिए प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति पीछे चार शिलिंग से भी कम है। फिर भी यदि यह

---

* बेसिक फैक्ट्स एण्ड फिगर्स (यूनेस्को), १९५४।

रकम मिलनी बन्द हो जाय, तो उन उपनिवेशों की बड़ी हानि होगी। उपनिवेशों की जनता के प्रति ब्रिटेन में मित्रता की भावना बहुत गहरी है और आत्मनिर्णय का परिणाम यह नहीं हो सकता और न होगा कि उन उपनिवेशों को बाहर से सभी प्रकार की सहायता मिलनी बन्द हो जाय। आत्मनिर्णय का फल केवल यही होगा कि ब्रिटिश प्रशासन बन्दियों को बिना मुकदमा चलाये अनिश्चित काल तक कैद न रख सकेगा, उन्हें आग्नेय अस्त्र रखने के लिए, जो दूसरे लोगों द्वारा भी रख दिये जा सकते हैं, फाँसी न दी जा सकेगी, उन्हें तीन मास तक बेड़ी डालकर न रखा जा सकेगा। यह सभी कार्य केनिया में हुए हैं। 'शान्त करने के' इन सभी तरीकों से घृणा एवं असन्तोष का ही प्रसार होता है। यह सही है कि ब्रिटेन में पुलिस के कार्य का जो ढंग है, उस ढंग पर चलकर केनिया, सिंगापुर, साइप्रस आदि में शान्ति रखी जा सकती। किन्तु प्रश्न पुलिस की कार्य-प्रणाली का नहीं, बल्कि यह है कि क्या उन देशों में ब्रिटिश पुलिस, अथवा यों कहना चाहिए कि ब्रिटिश सेना, रहनी चाहिए।

बात कुछ भी हो, और मैं मानती हूँ कि इन प्रश्नों पर तर्क-वितर्क हो सकते हैं, तथापि वस्तुस्थिति यह है कि यदि विश्व सैनिकवाद को समाप्त नहीं करता, तो विज्ञान की शक्ति से तैयार किये गये युद्धास्त्र विश्व को ही समाप्त कर देंगे, और इस बर्बादी का मुख्य कारण स्वार्थ और भय होगा।

हम फिर १९२७ की ओर लौटते हैं। उस समय तुर्की और जर्मनी को छोड़कर शेष बड़ी शक्तियों ने रूस के निरस्त्रीकरण प्रस्ताव पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने तक से इनकार कर दिया। अतः लिटविनोव ने आंशिक निरस्त्रीकरण के लिए प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव पर १९२९ में विचार हुआ, किन्तु मत नहीं लिया गया। उसके बाद भयानक आर्थिक मन्दी आ गयी।

१९३२ में अमेरिका ने हूवर-योजना प्रस्तुत की, जिसमें कहा गया था कि सभी सेनाओं में एक-तिहाई कटौती कर दी जाय और टैंक, बड़ी तोपें,

रासायनिक आयुध तथा बमवर्षक विमान समाप्त कर दिये जायँ। इसके अन्तर्गत उस समय ज्ञात युद्ध के सभी वैज्ञानिक साधन आ जाते थे। उस समय कुछ देशों द्वारा शस्त्रीकरण पर अपने कुल व्यय का जितना प्रतिशत खर्च किया जाता है, वह जानने योग्य है और उस अनुपात का विवरण इस प्रकार है* :

आस्ट्रेलिया	१'२	इटली	२४	स्विट्जरलैण्ड	१६
कनाडा	२'६	जापान	३५	ब्रिटेन	१२
फ्रान्स	२६	नारवे	१५	अमेरिका	१८
जर्मनी	१३	स्वीडेन	१०	रूस	६

(१६५५ में ब्रिटेन का 'प्रतिरक्षा' पर होनेवाला व्यय ३२ प्रतिशत था।)

ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्धास्त्रों की सीमा निर्धारित करने या कमी करने के हर सुझाव का बराबर विरोध किया। १६३५ में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा शुरू हुई, जिसमें पहले जर्मनी आगे बढ़ गया और जिसकी चरम परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में हुई। यह सोचकर बड़ा कटु अनुभव होता है कि निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अमेरिका और रूस १६३२ में अंशतः एकमत थे, किन्तु ब्रिटेन सहमत नहीं हुआ। यह याद करके भी कटु अनुभव होता है कि १६३६ में जर्मनी द्वारा हमारे विरुद्ध प्रयुक्त कुछ अस्त्र वस्तुतः ब्रिटेन में ही बने थे और आज हम फिर पश्चिमी जर्मनी को ब्रिटिश युद्धास्त्र खरीदने के लिए आकृष्ट कर रहे हैं।†

परमाणु बमों ने स्थिति को एकदम बदल दिया है, किन्तु मानव के विचार करने और शक्तिप्रधान राजनीति तथा अपने ही हित की दृष्टि

---

* यह आँकड़े बोडले हेड, लन्दन (१९५१) द्वारा प्रकाशित आर्थर गाई इनोश की पुस्तक 'दिस वार बिजिनेस' से लिये गये हैं।

† 'टाइम्स' का द्वितीय सम्पादकीय लेख, ५ अक्तूबर १९५६।

से सौदेबाजी करने की आदत को वे नहीं बदल सके हैं। यद्यपि विश्व के राष्ट्र समय की गति पहचान रहे हैं, तथापि अमेरिका द्वारा प्रस्तुत योजना (बारुख योजना, जो बाद में बहुमत पक्ष की योजना का मुख्य अंग बनी) और रूस द्वारा प्रस्तुत योजना (अल्पमत पक्ष की योजना) ऐसी थीं, जिनमें उन राष्ट्रों ने अपनी ही सुरक्षा की चिन्ता की थी और दूसरों को खुले आक्रमण की चिन्ता से परेशान होने के लिए छोड़ दिया था। इस आधार पर दोनों में से एक भी राष्ट्र समझौते की आशा नहीं कर सकता था।

चूँकि हम यथार्थवादी बनने और सही स्थिति को समझने के लिए प्रयास कर रहे हैं, इसलिए पेरिस, स्टाकहोम और दूसरे स्थानों के शान्ति-सम्मेलनों के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों ही नहीं, बल्कि उनमें भाग लेने और परमाणु शक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण सम्बन्धी विचार-विमर्शों में शामिल होनेवाले स्वयं हम लोगों के हृदय में भी सन्देह की भावना रहने का मुख्य कारण यहाँ उल्लेख करने योग्य है। उस सन्देह का कारण यह था कि उन सम्मेलनों ने जो प्रस्ताव रखे और जिन पर उन्होंने पश्चिमी देशों में काफी हस्ताक्षर कराने की कोशिश की (तथा हस्ताक्षर कराया), वे प्रस्ताव मूलतः अल्पमत पक्ष (रूस) की योजना के ही प्रस्ताव थे।* जिन लोगों ने प्रस्ताव तैयार किये, उनमें से अधिकांश ईमानदारी के साथ ऐसा सोचते थे कि हम शान्ति स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं। यदि अच्छे विश्वास के साथ प्रस्तुत की गयी होती और अच्छे विश्वास के साथ

---

* ईमानदारी की बात यह है कि विश्व-शान्ति परिषद् के हाल के अभिलेख अधिक वस्तुनिष्ठ हैं। परिषद् ने बड़े राष्ट्रों की निरस्त्रीकरण वार्ता (वियेना, १९५६) के आधिकारिक वक्तव्यों का एक अच्छा सारांश प्रकाशित किया है। सोवियत शान्ति-आन्दोलन में परिषद् के जो सदस्य हैं, उन्होंने रूस सरकार से अनुरोध किया है कि युद्ध का प्रतिरोध करनेवालों को मान्यता देने के प्रश्न पर वह सहानुभूतिपूर्वक विचार करे।

स्वीकार कर ली जाती, तो कोई भी योजना विश्व को शान्ति की दिशा में अग्रसर कर सकती थी। अचेसन-लिलिएन्थाल रिपोर्ट के प्रवर्तकों के इस कथन में निष्ठा थी कि "वैज्ञानिक ज्ञान के विनाशकारी उपयोग से सभ्य-संसार की रक्षा युद्ध रोकने पर ही हो सकती है।" वे समझते थे कि परमाणु शक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण सम्बन्धी प्रस्ताव इस दिशा में पहले कदम मात्र हैं। आशा यह थी कि इस समस्या को हल करने में सहयोग का एक ऐसा नया ढंग कायम हो सकता है, जो दूसरे क्षेत्रों में भी अपनाया जा सकेगा, भले ही उसका रूप कुछ और हो। कीटाणविक युद्धास्त्रों पर किन्हीं भी साधनों से नियन्त्रण नहीं हो सकता था और रूढ़ अस्त्रों पर पहले विचार नहीं हुआ।

पूरी वार्ता में मूलभूत सहमति की बहुत-सी बातें रहीं। जिन उद्देश्यों पर सहमति थी, वे थे सशस्त्र सेनाओं तथा आयुधों में कमी और नियंत्रण, पारमाणविक अस्त्रों की समाप्ति तथा परमाणु शक्ति के केवल शान्तिपूर्ण उपयोग एवं समझौतों के उल्लंघन की रिपोर्ट देने के लिए नियन्त्रण तथा निरीक्षण की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना। मतभेद इन बातों पर था कि विभिन्न कार्रवाइयों का समय और सीमा क्या हो, सबसे पहले कौन से कदम उठाये जायँ और नियन्त्रण करनेवाले संगठन के कार्य तथा अधिकार क्या हों।

पहले की वार्ताओं में भी दोनों ओर से ऐसी भावना दिखाई पड़ती थी कि किसी भी बात पर झुकने का अर्थ कमजोरी समझा जायगा और उससे प्रतिष्ठा घटेगी। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत हुआ कि मानो स्वयं इन वार्ताओं तथा बुरी नीयतों से उत्पन्न बुरी भावनाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को और भी खराब कर दिया है। इसके साथ ही जहाँ सहमत न होने के खतरे और भी साफ दिखायी पड़ने लगे, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने दोनों पक्षों के रुख को और कड़ा बनाया तथा प्रस्ताव इस प्रकार प्रस्तुत और वापस

किये गये कि निरस्त्रीकरण वार्ताओं में दिलचस्पी रखनेवाला साधारण नागरिक उससे सचमुच ऊब गया।

लेकिन इन सब तथ्यों के बावजूद दोनों पक्षों द्वारा बड़ी रियायतें दी गयी हैं और पारस्परिक सद्भावना में वृद्धि हुई है। हम एक-दूसरे के प्रति उत्तरोत्तर अधिक विनम्र होना सीख रहे हैं, और यह अच्छा है।

मेरे कहने का जो अर्थ है, वह शायद बहुत छोटी समीक्षा से स्पष्ट हो जायगा। १९४६ में बारुख योजना में पहले परमाणु बमों का निर्माण बन्द करने और उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का प्रस्ताव किया गया था। रूसी योजना में माँग की गयी थी कि पहला कदम बमों का उन्मूलन होना चाहिए।

पारमाणविक तथा रूढ़ अस्त्रों के नियंत्रण पर विचार करने के लिए पृथक्-पृथक् आयोग चाहनेवाले अमेरिका ने १९५० में स्वीकार किया कि इन दोनों आयोगों को एक कर दिया जाय। फलस्वरूप १९५२ में राष्ट्रसंघ का निरस्त्रीकरण आयोग स्थापित हुआ।

१९५२ में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और कनाडा ने प्राथमिकता का निम्नलिखित क्रम रखने पर जोर दिया : अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में (क्रमशः) सैनिक जानकारियाँ प्रकट की जायँ तथा उन्हें 'चेक' किया जाय, सन्तुलित ढंग से रूढ़ अस्त्रों तथा सेनाओं में कमी की जाय (अमेरिका, रूस और चीन के लिए अधिक-से-अधिक १० लाख से १५ लाख सैनिकों तक की व्यवस्था थी) और उद्जन तथा अन्य महाविनाशकारी अस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाया जाय।

रूस इस व्यवस्था को बिल्कुल उलटे रूप में चाहता था। उसने प्रस्ताव किया कि सभी सशस्त्र सेनाओं में एक वर्ष के भीतर तिहाई कमी कर दी जाय (विश्व-शान्ति परिषद् ने इस प्रस्ताव को स्वीकार और प्रचारित किया)। इस बीच १९५५ में ब्रिटेन और फ्रान्स द्वारा दुहराये जाने पर रूस ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि तीन बड़ों (अमेरिका, रूस और

चीन) की सेना में अधिक-से-अधिक १० लाख से लेकर १५ लाख तक और ब्रिटेन तथा फ्रांस की सेना में अधिक-से-अधिक ६॥ लाख सैनिक रहें। किन्तु इसके साथ ही उसने यह माँग भी की कि अस्त्रों में कमी करने तथा पारमाणविक अस्त्रों पर प्रतिबन्ध की योजना के कार्यान्वयन की प्रथम कार्रवाई के रूप में वे राष्ट्र, जिनके पास उद्‌जन तथा परमाणु अस्त्र हैं, इन अस्त्रों का प्रयोग न करने का वचन दें और "दूसरे देशों में सैनिक, नौसैनिक तथा हवाई अड्डे रखनेवाले देश घोषणा करें कि वे इन अडडों को समाप्त कर देंगे।"

रूस ने यह भी प्रस्ताव किया कि युद्धास्त्रों में कटौती और पारमाणविक अस्त्रों पर रोक के प्रथम चरण में अचानक आक्रमण रोकने के लिए राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण संगठन को बड़े बन्दरगाहों, रेलवे जंक्शनों, मुख्य मोटर-मार्गों तथा हवाई अड्डों पर नियन्त्रण चौकियाँ भी रखनी चाहिए और दूसरे चरण में 'क्रमबद्ध निरीक्षण' की व्यवस्था होनी चाहिए।

सोवियत सरकार ने ब्रिटेन और फ्रांस का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि सशस्त्र सेनाओं तथा रूढ़ अस्त्रों में ७५ प्रतिशत कटौती परमाणु, उद्‌जन तथा अन्य महानाशकारी अस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगने तथा उन्मूलन होने के पहले हो जानी चाहिए।

दूसरे देशों में अड्डे समाप्त करने का प्रस्ताव अमेरिका को मान्य नहीं हुआ और न ही उसने अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण सम्बन्धी सुझावों को पर्याप्त माना। १८ जुलाई १९५५ की शिखर वार्ता में राष्ट्रपति आइसनहावर ने अमेरिका और रूस के बीच सैनिक सूचनाओं के आदान-प्रदान तथा वैमानिक टोह के लिए अपनी 'मुक्त आकाश' योजना प्रस्तुत की और इसे किसी भी एक देश द्वारा दूसरे देश पर अचानक आक्रमण किये जाने के खतरे के विरुद्ध सर्वोत्तम चेतावनी माना।

रूस के प्रधान मंत्री बुलगानिन ने १९ सितम्बर १९५५ को राष्ट्रपति

आइसनहावर के नाम एक युक्तिसंगत एवं नम्रतापूर्ण पत्र भेजा, जिसमें उन्होंने कहा था कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में हम दोनों के देश कोई काम अकेले नहीं कर रहे हैं। अमेरिका की सेनाएँ इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, इटली, फ्रांस, स्पेन, उत्तरी अफ्रीका, यूनान, तुर्की, निकट एवं मध्यपूर्व के देशों, जापान, ताइवान (फारमोसा) और फिलीपाइन में भी हैं। इसके अलावा दूसरे राज्यों की सेनाएँ भी अमेरिकी कमान में हैं। दूसरी ओर रूस और उसके कई साथी देशों का सैनिक गठबन्धन है।

बुलगानिन का कहना था कि यदि केवल अमेरिका और रूस में ही वैमानिक सर्वेक्षण होंगे, तो दूसरे देशों में स्थित यह सभी सेनाएँ तथा सैनिक प्रतिष्ठान अछूते रह जायेंगे। क्या ये देश अपने को इस निरीक्षण-योजना के अन्तर्गत रखा जाना स्वीकार करेंगे ? यदि उन्हें यह स्वीकार है, तो क्या हथियारों में कटौती और पारमाणविक अस्त्रों पर रोक लगाये बिना इससे कोई लाभ होगा ?

उस समय राष्ट्रपति आइसनहावर बीमार थे। उन्होंने संक्षेप में यही उत्तर दिया कि मैं अपनी योजना को 'सारी चीजों का उपचार' नहीं समझता, बल्कि मानता हूँ कि इससे ऐसा "नया वातावरण बनेगा, जो आज के भय और सन्देह को बहुत कुछ समाप्त कर देगा।"

अमेरिका ने और सब बातों से पहले मूलतः वैमानिक तथा स्थल-सर्वेक्षण की योजना पर ध्यान दिया है। निराशा की एक बात यह हुई कि अमेरिका ने २८ मई १९५२ का अपना वह मूल सुझाव वापस ले लिया, जिसमें अधिक-से-अधिक १० लाख से १५ लाख तक सैनिक रखने की बात कही गयी थी और ३ अप्रैल १९५६ को प्रस्ताव किया कि रूस, अमेरिका तथा चीन की अधिकतम सैनिक शक्ति २५ लाख और ब्रिटेन तथा फ्रान्स की सैनिक शक्ति ७॥ लाख रहे। चूँकि इस समय रूस और चीन प्रत्येक के पास अनुमानतः ४० लाख, अमेरिका के पास २९ लाख और ब्रिटेन के पास ८ लाख सैनिक हैं, इसलिए इस प्रस्ताव का यह अर्थ हुआ

कि कम्युनिस्ट देशों को अपनी सैन्य शक्ति में ३७ प्रतिशत से अधिक कमी करनी पड़ेगी, जब कि अमेरिका को अपनी सेना केवल १४ प्रतिशत और ब्रिटेन को लगभग ६ प्रतिशत ही घटानी होगी।

इसकी प्रतिक्रिया में रूस ने अपनी सैनिक शक्ति में १२ लाख की कमी करने की एकपक्षीय घोषणा की। बाद में (१२ जुलाई १९५६ को) उसने अधिक-से-अधिक २५ लाख सैनिक रखने का प्रस्ताव स्वीकार किया और इसके साथ ही पश्चिमी राष्ट्रों के नेटो, सीटो तथा बगदाद सैनिक गुटों की गहरी आलोचना की। उसने इस सुझाव का विरोध किया कि जब तक राजनीतिक समझौता न हो जाय, तब तक निरस्त्रीकरण के लिए प्रतीक्षा की जानी चाहिए। उसके बाद उसने सीमित वैमानिक सर्वेक्षण की बात मान ली है। यह पुस्तक लिखते समय अमेरिका नया प्रस्ताव करने की तैयारी में था।

श्री डलेस ने कहा था "राजनीतिक रजामन्दियाँ निरस्त्रीकरण में सहायक होती हैं और निरस्त्रीकरण राजनीतिक रजामन्दियों में सहायक होते हैं। जर्मनी के सम्बन्ध में कोई रजामन्दी तब तक व्यावहारिक न होगी, जब तक निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में कम-से-कम आंशिक रजामन्दी न हो जाय।"

यह बात स्वीकार की जाती है कि पारमाणविक अस्त्रों का जो निर्माण हो चुका है, उसे 'चेक' नहीं किया जा सकता। इसके फलस्वरूप ऐसे अस्त्रों को नष्ट करने का प्रश्न निरस्त्रीकरण प्रस्तावों में अन्तिम विषय बन जाता है। यदि इसका यह मतलब है—जैसा कि स्पष्टतः दिखायी पड़ता है—कि जब तक सभी मुख्य राजनीतिक समस्याओं का निपटारा न हो जाय, तब उद्जन एवं परमाणु अस्त्र बनानेवाले राष्ट्र इन अस्त्रों को तथा 'अन्तिम साधन के रूप में' इनका उपयोग करने में सक्षम पर्याप्त सेना को रखना चाहेंगे, तब इस बात की आशा बहुत कम है कि इन अस्त्रों की सचमुच कभी समाप्ति होगी।

मैं नहीं समझती कि सभी राजनीतिक समस्याओं का कभी निपटारा हो भी जायगा। जर्मनी और कोरिया के विभाजन, रूस और अमेरिका के झगड़े, यूरोप के देशों पर इन दोनों बड़े राष्ट्रों के सैनिक एवं आर्थिक प्रभुत्व, अरब राष्ट्रों के नवोदित राष्ट्रवाद, इसराइल के अस्तित्व, उपनिवेशों में आत्मनिर्णयाधिकार की माँग, चीन की दो सरकारें आदि जैसे राजनीतिक विवादों का निपटारा हो भी जाय, तो बाद में दूसरी राजनीतिक समस्याएँ खड़ी होंगी। विश्व में जनसंख्या की असमान स्थिति प्राविधिक दृष्टि से अर्द्धोन्नत देशों के बढ़ते हुए उद्योगीकरण या यंत्रीकरण, ऐसे वैज्ञानिक आविष्कारों की सम्भावनाएँ, जिनको लेकर कच्चे माल की कम प्राप्ति अथवा असमान वितरण की समस्या आये और शक्ति-सन्तुलन बिगड़े, तथा अपने साथ किये जानेवाले व्यवहार के प्रति एशियाइयों और अफ्रीकियों के क्षोभ आदि समस्याएँ, जिनका मैंने वर्णन किया है और वे समस्याएँ, जिनका मैंने वर्णन बिल्कुल नहीं किया है, निश्चित रूप से नये प्रश्न सामने लायेंगी, जिन्हें हल करना पड़ेगा, नये विवाद खड़े करेंगी, जिनका निराकरण करना पड़ेगा।

यह सोचना भ्रम है कि ऐसे संसार में जो युद्ध को अपराध नहीं समझता, ये समस्याएँ शान्तिपूर्वक सुलझ जायँगी। इस स्थिति में यदि यह दलील दी जाय कि अपराध किये जाते हैं और उनके लिए दण्डित किया जाना चाहिए, तो मैं यही कहूँगी कि ऐसे संसार में, जहाँ परमाणुशक्ति-केन्द्र रखनेवाला कोई भी राष्ट्र महाविनाशकारी युद्धास्त्र बना सकता है, हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम युद्ध करने के अपराध की सजा के रूप में युद्ध को कायम रखें। इस तर्क से बच निकलने का मैं कोई रास्ता नहीं देखती। मैं यही कह सकती हूँ कि अपने को सभ्य कहनेवाले हम लोग आगे बढ़ें और अपने बच्चों को ऐसा बनायें कि वे युद्ध को मनुष्य-भक्षण की तरह इस कोटि का भयानक अपराध मानें, जिसे कोई भी सभ्य व्यक्ति, कोई भी सभ्य राष्ट्र न करना चाहे। यह कथन गृह-युद्ध और 'पुलिस कार-

वाई' के सम्बन्ध में भी उतना ही लागू है, जितना विश्व-युद्ध के सम्बन्ध में; क्योंकि सामुदायिक विवादों को या किसी भी समस्या को हिंसा से हल करने के सारे विचार का उन्मूलन किया जाना चाहिए।

जिस जिज्ञासा के साथ यह पुस्तक प्रारम्भ की गयी, उसके सामने क्वेकरों के ईसाई-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधृत तर्क एक किनारे रह जाते हैं, फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि वैज्ञानिक और ऐतिहासिक वास्तविकताओं की अपरिहार्य प्रवृत्तियाँ तथा ईसाई-धर्म की नीति-शिक्षाएँ हमें एक ही दिशा में ले जाती हैं। 'अपराध का पुरस्कार मृत्यु है' कथन आज भी उतना ही सत्य है, जितना बाइबिल लिखने के समय सत्य था। विश्व के लिए भी यह उतना ही सत्य है, जितना किसी व्यक्ति के लिए।

● ● ●

बारहवाँ अध्याय

व्यक्ति के रूप में या राष्ट्र के रूप में हम जो भी करें, उसमें हमें कुछ जोखिम उठाने पड़ेंगे। कभी-कभी जब खतरा तात्कालिक होता है, तब हम उसके बारे में सोचे-बिचारे बिना ही उसी प्रकार जोखिम ले लेते हैं, जिस प्रकार किसी डूबते हुए बच्चे को बचाने के लिए तैरना न जाननेवाला व्यक्ति नदी में कूद पड़ता है। नदी बहुत गहरी हो सकती है, उस समय उसे यह सोचने का समय ही नहीं रहता। अधिकतर जोखिम हम सोच-समझकर उठाते हैं। यह बात ईसाई और नास्तिक, राजनीतिज्ञ और शान्तिवादी पर भी उतनी लागू होती है। यह आमतौर पर माना जाता है कि ईसाई, और वह भी खासकर ईसाई शान्तिवादी, उन जोखिमों को उठाता है, जिनमें उसके धर्म का प्रश्न हो और राजनीतिज्ञ तथा भौतिकवादी वह जोखिम उठाता है, जिसमें विवेक का प्रश्न हो।

यदि मुझ जैसा ईसाई शान्तिवादी गलती पर है, यदि परमात्मा प्रेम का परमात्मा नहीं है, यदि अच्छाई संसार की सर्वाधिक बलवती शक्ति नहीं है, तब इस सभ्यता का विनाश ही न हो जायगा, अपितु आगे चलकर संसार में बुराई का ही बोलबाला रहेगा। यदि हम सही रास्ते पर हों, तो भी यह सभ्यता नष्ट हो सकती है; लेकिन तब उसके साथ अच्छाई का नाश न होगा और उसके तात्कालिक तथा स्पष्ट परिणाम कुछ भी हों, यह निश्चित है कि व्यक्ति और राष्ट्र अच्छे साध्य को प्राप्त करने के लिए बुरे साधनों का प्रयोग न करेंगे। बुरे साधन हम उन्हें मानते हैं, जो प्रेम पर आधृत नियम के प्रतिकूल हों, बुरी चीजें वे हैं, जिन्हें करने से करनेवाले का ही पतन हो जाता है। कहा भी है 'आत्मना प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

इस प्रकार का विचार और व्यवहार किसी भी अर्थ में युक्तिविरोधी नहीं है। ईसाई शान्तिवादी तो उल्टे यही कहेगा कि यह विवेक का सबसे ठोस स्वरूप है, क्योंकि यह परमात्मा के संकल्प के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं। राजनीतिज्ञ, अनीश्वरवादी या मानववादी भी, जिसके शान्तिवादी न होने का कारण ईसाई आचार-नीति पर आधृत विश्वास नहीं है, यदि लम्बे इतिहास की शिक्षा को समझता है और अपने आत्मविवेक के अनुसार आचरण करता है, तो इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेगा। ईसाई शान्तिवादी जिद के कारण नहीं, बल्कि आस्था के कारण यह कहता है कि सच्ची युक्ति और विवेकपूर्ण चेतना मनुष्यों को एक ही दिशा में ले जाते हैं।

मैं आशा करती हूँ कि आम सैनिक भरती के मामले को उदाहरण बनाने के लिए मुझे इसी विषय पर विशेष रूप से जोर देने का दोषी न समझा जायगा। अनिवार्य सैनिक भरती का मतलब युवकों को दूसरे लोगों की हत्या करने की प्रशिक्षा देना है। अनेक सहृदय व्यक्ति इस तथ्य पर ध्यान नहीं देते। अनिवार्य सैनिक भरती में उन्हें कवायद, चरित्र-निर्माण, सामाजिक मेल-जोल, व्यवसाय-शिक्षा तथा विश्व-दर्शन, सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह में योगदान और अनुशासन की शिक्षा के ही दर्शन होते हैं। जब अनिवार्य सैनिक शिक्षा शान्ति-काल में भी जारी रही, तो इन्हीं दृष्टियों से अनेक जिम्मेदार तथा शिक्षित महिलाओं ने चाहा कि तरुण बालाओं को भी यह शिक्षा दी जाय।

यह सही है कि किसी भी भावी पारमाणविक युद्ध में अनिवार्य रूप से भरती इन सैनिकों को शत्रुओं का सीधा सामना करने और उन्हें मौत के घाट उतारने का अवसर न मिलेगा, जैसा कि वे जंगल की लड़ाइयों में करते हैं। वे चार्टों को पढ़ेंगे, हिसाब लगायेंगे, यंत्र का बटन दबायेंगे और लाखों, करोड़ों स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों पर मृत्यु की वर्षा करेंगे, लाखों-करोड़ों को यत्रणा देंगे। वे यह सब प्रतिशोधात्मक कार्रवाई इसलिए करेंगे कि उनके देश में अनेक लोग इसी तरह मारे गये हैं या लोगों के

मारे जाने का खतरा हो सकता है। इस प्रशिक्षा के साथ और चाहे जो प्रशिक्षा हो, लेकिन यह प्रशिक्षा तो मूलतः हत्या करने की ही है।

ऐसी खबर है कि राष्ट्रीय सेना के सम्बन्ध में हाल की बहस में लोकसभा में एक भी वक्ता ने पहले की तरह का कोई भी तर्क नहीं रखा कि अनिवार्य सैनिक भरती अच्छी चीज है। अनिवार्य सैनिक भरती के पक्ष में दी जानेवाली दलील अब युक्तिसंगत नहीं रह गयी है। उपयोगी बनने के बजाय इस शिक्षा का ऐसा प्रभाव हुआ कि अनिवार्य रूप से भरती किये गये नये सैनिक ट्रेनों में या तो 'कामिक' पढ़ते हुए दिखायी पड़ेंगे या एक किनारे पर बेकार बैठे हुए। दूसरी ओर उद्योग में तरुण प्राविधिज्ञों और प्रशिक्षार्थियों का अभाव है। इस तरह के बहुत से सैनिकों को उपयोगी प्रशिक्षण मिल जाता है, किन्तु दूसरे बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि हमारा समय बेकार गया और कठोर श्रम से बचने के अतिरिक्त हमने और कुछ नहीं सीखा।

लोकसभा के दोनों पक्ष सिद्धान्ततः सहमत थे कि अनिवार्य सैनिक भरती समाप्त कर दी जानी चाहिए। इसे कब समाप्त किया जाय, इस सम्बन्ध में केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के आधार पर ही बहस हुई। इसे जारी रखने की माँग यह कहकर की जाती है कि इसके बिना हमारा काम तब तक नहीं चल सकता, जब तक हम अपनी वर्तमान परराष्ट्रनीति और सैनिक जिम्मेदारियों का त्याग न कर दें। किन्तु यह सब होते हुए भी जो लोग अनिवार्य सैनिक भरती का समर्थन करते हैं या उसका सक्रिय रूप से विरोध नहीं करते, उनमें से बहुतों का विश्वास है कि हमारी परराष्ट्रनीति गलत है। अनिवार्य सैनिक शिक्षा का सर्वत्र एक गुण यह होता है कि वह युद्धमूलक परराष्ट्रनीति को प्रश्रय देती है। तरुणों को जैसी सैनिक शिक्षा दी जाती है, उससे वे ऐसे समझदार नागरिक नहीं बन सकते, जिन्हें अबुद्धिमत्तापूर्ण, जिदभरी या डर पर आधृत राजनीतिक नीतियों की रचनात्मक आलोचना की जानकारी हो। इस शिक्षा से ऐसे व्यक्ति ही तैयार किये जा सकते हैं, जो

सबसे पहले शक्ति-प्रयोग की बात सोचें। यह ऐसा विचार है, जिससे हमें परमाणु बम के इस संसार में, जिसे आबादी और जातियों की समस्याएँ हल करनी हैं, बचना है। आज और आगे आनेवाले समय में मानव-जाति के लिए बहुत बड़ा खतरा इस बात से है कि ब्रिटेन और फ्रान्स, अमेरिका और रूस तथा अन्य अनेक देशों में हम अल्पवयस्कों को बहुत नरम अवस्था में नेता, राज्य और सत्ताधिकारियों के आदेश के अन्धानुसरण की प्रशिक्षा दे रहे हैं। सब कार्य यंत्र से करने के इस परमाणु-युग में हमें यंत्र-मानव की आवश्यकता नहीं है, बल्कि ऐसे व्यक्ति चाहिए, जो अपनी बुद्धि से सोच सकें, जो प्रचार की असत्यताओं को समझ सकें, जिनमें आगे बढ़ने और स्वयं अनुशासित रहने का गुण हो, जो जिम्मेदार नागरिक हों तथा नौकरशाही भावना में न तो बहुत बहनेवाले हों और न सेवा से घबराहट अनुभव करें।

कोई सहमत हो या न सहमत हो, ये सभी युक्तिपूर्ण तर्क हैं। अनिवार्य सैनिक भरती के विरुद्ध आत्मिक आधार पर इससे भी बड़ी आपत्ति है। निश्चय ही यह आपत्ति युद्ध के विरुद्ध आपत्ति का ही एक अंग है, तथापि इस आपत्ति का आधार और भी गहराई तक जाता है। आज जो तरुण अनिवार्य सैनिक भरती के अन्तर्गत अपना नाम दर्ज करा रहे हैं, १९३९ में अनिवार्य सैनिक भरती की योजना प्रारम्भ किये जाते समय वे या तो बच्चे थे या पैदा नहीं हुए थे। अनिवार्य सैनिक भरती की लपेट में जो नैतिक प्रश्न आते हैं, उनके बारे में व्यक्तिगत राय बनाने का उन्हें कोई मौका नहीं मिला या बहुत कम मौका मिला, क्योंकि वे ऐसे समाज में बड़े हुए हैं, जिसने अनिवार्य सैनिक भरती स्वीकार की है। कुछ मुट्ठीभर लोगों को छोड़ दिया जाय, तो ईसाई धर्मगुरुओं ने इस पर सक्रिय रूप से अपनी सहमति प्रकट की है। इन तरुणों को इस विश्वास में ढाला जा रहा है कि नागरिकता की दृष्टि से, यहाँ तक कि ईसाई नागरिकता की दृष्टि से, दुःखद होने पर भी दूसरों को मौत के घाट उतारने, यंत्रणा देने और बर्बाद करने

का यह दो वर्षीय प्रशिक्षण अपरिहार्य है। यह स्वयं उनके विवेक की पवित्रता और उनकी अस्मिता (Personality) का उल्लंघन है। यह गलत मूल्यों को सिखाता है और हिंसा की आदत अपनाने की शिक्षा देता है। अनिवार्य सैनिक भरती उन्हें अपने घर तथा मित्रों के प्रभाव से दूर कर देती है और वे ऐसे नैतिक खतरों में पड़ जा सकते हैं, जिनका सामना करने का उनमें से अधिकांश में आत्मसंयम नहीं होता। यह उन्हें बुराई और हमले का जवाब देने की शिक्षा देता है, जो ईसा की शिक्षा का बिल्कुल उलटा है। यह द्वैध नैतिकता को प्रश्रय देता है, जिसमें विश्वास करना सिखाया जाता है कि आदेश होने पर एक व्यक्ति या समाज ऐसा अपराध कर सकता है, जो कोई व्यक्ति निजी तौर पर नहीं कर सकता या करने में हिचकिचाहट अनुभव करेगा।

यह उसी प्रकार का अनुकूलन है, जिसकी हम बहुत आलोचना करते हैं और कम्युनिस्टों द्वारा तरुणों के वैसा बनाये जाने पर घबराते हैं। आज हमने अपना इतना अधिक अनुकूलन कर लिया है कि हम भूमि-सेना और शाही हवाई बेड़े के अफसरों को स्कूलों में जाकर बच्चों को यह बताने देते हैं कि सशस्त्र सेनाओं में कितना अच्छा काम और कितनी अच्छी प्राविधिक प्रशिक्षा मिलती है। प्राविधिक स्कूलों तथा कॉलेजों में, स्कूल कैम्पों में, स्काउटों द्वारा, युवक क्लबों द्वारा, स्कूल में एक वर्ष अतिरिक्त शिक्षा द्वारा, विदेश-यात्राओं के आयोजन द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय शिविरों द्वारा और प्राविधिक शिक्षा तथा विदेशों में सेवा का अवसर देकर इस तरह की कोई भी अच्छी प्रशिक्षा विना उस सैनिक ट्रेनिंग के भी प्राप्त की जा सकती है, जिसके लिए हम 'राष्ट्रीय सेवा' शब्द का प्रयोग करके 'राष्ट्रीय सेवा' शब्द का अपमान करते हैं।

विवेक और नैतिकता दोनों का तकाजा है कि अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षा का अन्त किया जाना चाहिए।

सैनिक तैयारी जारी रखने की हमारी नीति में जो खतरे निहित हैं, उन

पर विचार करने में मैं, ईसाई-धर्म के मूलभूत उपदेशों की ओर गये बिना यथासम्भव वस्तुनिष्ठ रहने की कोशिश करूँगी। वास्तविकता के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में जितना अन्तर होता है, नैतिकता के सम्बन्ध में लोगों में उससे कहीं अधिक मतभेद हैं। शायद यह कहना सही होगा कि एक ओर जहाँ अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं कि हमारे कार्य नैतिकता के अनुकूल होने चाहिए, वहीं दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे व्यक्तिगत व्यवहार को नैतिकता समझते हैं, जिसका परमात्मा सम्बन्धी धारणा से, सत्य से मेल हो। दूसरे लोग नैतिकता को उसके सम्भावित परिणाम, व्यावहारिकता, धर्म-गुरुओं के आधिकारिक मत अथवा समाचारपत्रों के प्रामाणिक मन्तव्य के सन्दर्भ में देखते हैं।

न्यायपूर्ण युद्ध की रूढ़िवादी धारणा नैतिकता के परवर्ती विचार पर आधृत है। युद्ध को उस हालत में न्यायपूर्ण कहा जाता है, जब उससे होने-वाली सम्भावित हानि उस हानि से अधिक न हो, जिसे युद्ध रोकना अथवा परिमार्जित करना चाहता है, उस उद्देश्य को प्राप्त करने के शान्तिपूर्ण साधन सुलभ और पर्याप्त न हों और इन प्रश्नों पर विचार करने के बाद तथा न्याय को प्रश्रय देने की इच्छा से उचित राजनीतिक सत्ता ने युद्ध करना स्वीकार किया हो।

तब हम (१) एक राष्ट्र और राष्ट्रों के समाज के रूप में अपनी वर्तमान कारंवाई, (२) आंशिक या पूर्ण एकपक्षीय निरस्त्रीकरण, (३) आंशिक या पूर्ण सार्वदेशिक निरस्त्रीकरण से अच्छी-से-अच्छी और बुरी-से बुरी क्या आशाएँ कर सकते हैं ?

हो सकता है कि एक-दूसरे के पास परमाणु तथा उद्जन अस्त्र होने से-बड़े राष्ट्र संघर्ष से विरत रहें, समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान पाने की आदत धीरे-धीरे हमें एक साथ रहना सिखा दे, राष्ट्रसंघ को धीरे-धीरे हम और व्यापक तथा यथार्थवादी बना दें तथा उसके निर्णयों का अधिक पालन करने की स्थिति तैयार कर लें, अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का कोई ऐसा

स्वरूप स्वीकार करने में हम एकमत हो जायँ, जिससे हम अपने को अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित समझ सकें और इस प्रकार के नियंत्रण द्वारा दूसरे राष्ट्रों में भी शान्ति के लिए इन अस्त्रों तथा इनकी तरह के दूसरे वैज्ञानिक अस्त्रों का निर्माण रुकवा दें। इस बीच हम अपने अधिकांश वैज्ञानिकों तथा प्राविधिज्ञों और काफी आर्थिक साधनों का उपयोग सैनिक उद्देश्यों के लिए करेंगे। हम युवकों और युवतियों को अनिवार्य रूप से भरती किये गये सैनिक अथवा स्वयंसेवक के रूप में युद्ध की प्रशिक्षा देते रहेंगे। हम उन्हें सिखायेंगे कि यद्यपि विश्व-युद्ध का विचार भी नहीं किया जा सकता, तथापि ब्रिटिश हितों की रक्षा या उपनिवेशों के अशान्त आदिवासियों को शान्त करने के लिए हमें सीमित युद्ध करना पड़ सकता है। इन सीमित युद्धों में हम अपना विरोध करने की धृष्टता करनेवाले उन लोगों को ठिकाने पर लाने के लिए या अपनी विजय के हेतु किन्हीं भी भयानक अस्त्रों का उपयोग करना जरूरी समझेंगे। वे लोग ऐसे कार्य, जो नागरिक जीवन में अपराध हैं, कर्तव्य के रूप में करना सीखेंगे। यह काम करने के बाद वे फिर नागरिक जीवन अपनायेंगे, बच्चे पैदा करेंगे और वे बच्चे भी वही काम करना सीखेंगे। हमारी वर्तमान कार्रवाई से अच्छी-से-अच्छी आशा यही की जा सकती है।

इस अनुमान में यह भी मान लिया गया है कि भविष्य में जो भी समस्याएँ सामने आयेंगी या संघर्ष होंगे, उनका सामना हम इसके पहले अपनाये गये साधनों से कर लेंगे। ऐसा हो सकता है, इस बात का मुझे विश्वास नहीं हो पाता। मैं यह भी नहीं मानती कि यदि हम आज की तरह सोचते और व्यवहार करते रहें, तो हम अधिक समय तक संकट टाल सकेंगे। मैं इसे कोई अकल्पनीय बात नहीं मानती कि हमारी सभ्यता का विनाश हो जायगा। दूसरी सभ्यताएँ नष्ट हुई हैं, दूसरे जीव नष्ट हो गये हैं, क्योंकि वे अपने को नयी स्थिति के अनुकूल नहीं बना सके। अब विशाल और कटारीदार दाँत के सिंह नहीं रह गये हैं। जोखिम यह नहीं है कि हमारी

सभ्यता का विनाश हो जायगा, अपितु जोखिम यह है कि उसका इतने भयानक और अनावश्यक रूप से विनाश होगा।

पूर्ण तथा सार्वदेशिक निरस्त्रीकरण से क्या युद्ध का उन्मूलन सम्भव है, इसका विचार करने से पहले मैं इस बात पर विचार करना चाहूँगी कि ऐसी नीति में जोखिम क्या होंगे। सबसे पहले हम एकपक्षीय निरस्त्रीकरण को लें और इसके भी पृथक् पृथक् रूप से इस बात पर विचार करें कि आंशिक और पूर्ण निरस्त्रीकरण के क्या सम्भावित परिणाम होंगे। दोनों प्रकार के निरस्त्रीकरणों से अच्छी-से-अच्छी क्या आशा की जा सकती है और बुरी-से-बुरी क्या आशा की जा सकती है? हमारी वर्तमान नीति के परिणाम की अपेक्षा ये निरस्त्रीकरण अच्छे हैं या बुरे?

ब्रिटेन एकपक्षीय आंशिक निरस्त्रीकरण कर दे, तो उसके अस्त्र-शस्त्र उन छोटे देशों के स्तर पर आ जायेंगे, जो ब्रिटेन की ही तरह उद्योगतः उन्नत तो हैं, किन्तु जो न तो अमेरिका पर इतना अधिक निर्भर हैं और न जिनके पास इतनी अधिक दूरी पर तथा यदा-कदा अशान्तिग्रस्त होनेवाली बस्तियाँ हैं। कोई भी बड़ा निरस्त्रीकरण करने के पूर्व हमें विभिन्न सैनिक सन्धियों के अन्तर्गत मिली जिम्मेदारियों से हटना पड़ेगा या उनमें परिवर्तन करना होगा। इसका फल यह हो सकता है कि हम अधिक महत्त्व तथा प्रभावशाली आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण की बात करें। इससे सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यों के लिए, औद्योगिक उन्नति के लिए, कर में कमी कर सकने के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय प्राविधिक सहायता-योजनाओं में योग देने के लिए धन सुलभ हो जायगा। जुलाई १९५५ में फ्रान्स के एडगर फौरे ने जो सुझाव रखे थे, उनमें एक सुझाव यह था कि इस प्रकार शस्त्रीकरण की सीमा निर्धारित किये जाने के फलस्वरूप जो धन और सामग्री बचे, "उसका उपयोग अर्द्धोन्नत देशों और अधूरी सुविधाप्राप्त लोगों की सहायता और उन्नति के लिए किया जाय।"

ब्रिटेन के इस प्रकार के निरस्त्रीकरण से जो खतरे हो सकते हैं, वे

स्पष्ट हैं। इस बात की कोई बहुत सम्भावना नहीं है (जैसा कि लोग कभी-कभी सोचते हैं) कि सैनिक जिम्मेदारियों से विरत होते ही रूस या अमेरिका सचमुच और तत्काल ब्रिटेन पर कब्जा कर लेंगे, लेकिन इस बात के लिए निश्चय ही बहुत प्रबल आर्थिक तथा राजनीतिक दबाव पड़ेगा कि ब्रिटेन में अमेरिकी अड्डे कायम रहें तथा उन अड्डों पर सेना की शक्ति बढ़ायी जाय। ब्रिटेन तब भी युद्ध का शिकार हो सकेगा। वह दूसरे देशों पर सैनिक दबाव न डाल सकेगा और न दूसरे राष्ट्रों को सैनिक सहायता ही दे सकेगा। उस अवस्था में यह भी हो सकता है कि दक्षिण अफ्रीका हाई कमीशन क्षेत्र बचुआनालैण्ड, स्वाजीलैण्ड और बसूटोलैण्ड पर शक्तिपूर्वक अधिकार कर ले। उन देशों में हमारा अपना काम कोई ऐसा नहीं है, जिस पर हम गर्व कर सकें; फिर भी वे दक्षिण अफ्रीका का भाग बनना कभी भी स्वीकार न करेंगे। यदि बस्तियाँ हमारे हाथ से निकल जायँ या हमारे संचार-मार्ग अवरुद्ध हो जायँ, तो हमारा जीवन-स्तर गिर सकता है। सेना से लोगों के मुक्त किये जाने से बेकारी की बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न हो जायगी। तब सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन स्थायी स्थान से वंचित हो सकता है और राष्ट्रसंघ में उसका प्रभाव बहुत कुछ घट जा सकता है। उसकी स्थिति स्कैण्डनेविया के एक देश जैसी ही हो जायगी।

ब्रिटेन या कोई दूसरा देश अकेले पूर्ण निरस्त्रीकरण कर दे, तो उससे उद्जन या पारमाणविक युद्ध रुक नहीं जायगा। पूर्ण निरस्त्रीकरण का अर्थ यह है कि सारे सैनिक संगठनों को समाप्त कर देना पड़ेगा और सारी सैनिक जिम्मेदारियों से हट जाना होगा। निश्चय ही इसके साथ ब्रिटेन स्थित विदेशी सैनिक अड्डों को भी बने न रहने दिया जायगा। इसके साथ-साथ तटस्थता की घोषणा भी करनी पड़ेगी और ऐलान करना होगा कि हम अपने क्षेत्र में किसी भी प्रकार का निरीक्षण करने देने के लिए तैयार हैं। इसका अर्थ यह होगा कि हमें दूसरे देशों से अपने गुप्तचर और भेदिये हटा लेने पड़ेंगे और जो देश हमारे अधिकार में हैं, वहाँ हम केवल

विशुद्ध सिविल पुलिस ही रख सकेंगे। इसका अच्छे-से-अच्छा यही अर्थ हो सकता है कि हम अपने आचरण से दूसरे देशों के सामने आदर्श प्रस्तुत करेंगे कि हम शत्रुता, शस्त्रीकरण, युद्ध, नयी शत्रुता, अधिक घातक शस्त्रीकरण, कहीं अधिक आत्मघातक युद्ध के चक्र को रोकना चाहते हैं। इससे हमें अपने तथा दूसरे देशों में रोग, भूख और अन्य अभावों से पीड़ित तथा मर रहे लोगों की सहायता करने का अवसर मिलेगा। अकेले ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में एक लाख व्यक्ति ऐसे रोगों से अन्धे हैं, जिन्हें दूर किया जा सकता है। हाल में मैंने एक ऐसा पोस्टर देखा, जिसमें नागरिक प्रतिरक्षा-विभाग के एक कर्मचारी को भावी पारमाणविक युद्ध में 'आहत' एक व्यक्ति की आँख में पट्टी बाँधते हुए दिखाया गया है। उस पोस्टर को देखकर मुझे इन दस लाख लोगों की याद हो आयी। उस सैनिक की वर्दी में जितना लगा है, उतने से ही कुछ अन्धों की आँख का इलाज हो सकता है।

एक-दूसरे के लाभ के लिए एक-दूसरे के प्रति सद्भावना के साथ वार्ता करने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। दूसरे राष्ट्रों के झगड़े निपटाने के लिए यह हमें वास्तविक प्रेरणा देगा और बीच-बचाव तथा वार्ता से विवाद सुलझाने की कला का विकास करेगा। हम विश्व-न्यायालय के निर्णयों के प्रति समादर की भावना बढ़ाने के लिए प्रयत्न करेंगे।

एकपक्षीय आंशिक या पूर्ण निरस्त्रीकरण को मुख्यतः इस आधार पर उपयुक्त नहीं माना जाता कि यदि हमारे देश की स्थिति ऐसी है कि उस पर आक्रमण हो सकता है, तो तत्काल हम पर आक्रमण होगा और हमारे देश को किसी भी भावी युद्ध में उसी तरह अड्डा बना दिया जायगा, जिस तरह द्वितीय महायुद्ध में नार्वे को बनाया गया था। यदि रूस ने हमारे देश का अतिक्रमण किया, तो हमारी लोकतान्त्रिक शासन-पद्धति समाप्त हो जायगी, हमारे बच्चों को नास्तिक बनने की शिक्षा दी जायगी और वे कम्युनिस्ट पक्ष की ओर से लड़ने के लिए सेना में भर्ती किये जायँगे।

ऐसा कहा जाता है कि सभ्यता का समूल नाश हो जाना उस संसार से कहीं अच्छा है, जिसमें ईसाई-धर्म के आदर्श न रह जायँ और बुराई का राज्य हो।

एकपक्षीय पूर्ण निरस्त्रीकरण के विरुद्ध शक्तिशाली तर्क यह है कि ऐसा कर सकना प्रायः बूते के बाहर है। लेकिन यह कहना कि ऐसा होने पर ईसाई-धर्म के आदर्श समाप्त हो जायेंगे, युक्ति और विश्वास दोनों को स्वीकार नहीं हो सकता। केवल इस आधार पर पूर्ण निरस्त्रीकरण करना कि इससे राष्ट्र की सुरक्षा रहेगी, इसके फलस्वरूप हमला न होगा, शक्तिशाली तर्कमात्र हो सकता है, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यदि कभी हमला हो जायगा, तो जनता की भावना एकदम उलट जायगी, जिसका परिणाम बहुत घातक हो सकता है। लेकिन किसी देश ने यदि उचित कार्य समझकर निरस्त्रीकरण करने का निश्चय किया, तो वह राष्ट्र आत्मिक दृष्टि से इतना अधिक शक्तिशाली होगा कि वह अपने विश्वास के बल से किसी भी हमले का सामना कर लेगा। उस देश के बच्चों के रग-रग में ईसाई-धर्म के सिद्धान्त होंगे और उन्हें इस बात की जानकारी रहेगी कि किस प्रकार शान्तिपूर्वक बुराई से मोर्चा लेना चाहिए। 'उनसे मत डरो, जो शरीर का संहार कर देते हैं, लेकिन आत्मा का संहार नहीं कर सकते' यही सारी शिक्षा का मूलतत्त्व रहेगा। क्या यह 'पूर्णतावादी' (Perfectionist) आशा है? शहीदों की भावनाएँ कहती हैं 'नहीं'।

वैयक्तिक रूप से हम क्या किसी प्रकार रूसियों और चीनियों से अधिक श्रेष्ठ हैं? हम पश्चिम के लोग, जिन्होंने परमाणु बम गिराया और उद्जन बम का सबसे पहले आविष्कार किया, ईसाई-धर्म के सद्गुणों के एकाधिकारी हैं, यह कहना मुझे झक्कीपन जैसा लगता है। ● ● ●

तेरहवाँ अध्याय

पिछले अध्यायों में मैंने जो कुछ कहा है, उसका अधिकांश उद्जन एवं परमाणु अस्त्रों के घातक प्रभावों से सम्बद्ध प्रमाणों तथा इस निश्चितता पर आधृत है कि यदि कभी विश्व के सारे राष्ट्र उद्जन तथा परमाणु अस्त्र बना लेने तथा उनका परीक्षण करने में समर्थ हो जायँ, तो उस समय तक या वह समय आने के पहले ही वास्तविक युद्ध न होने पर भी विश्व भारी खतरे में पड़ जायगा। उद्जन बम को शान्ति कायम रखने का साधन माननेवाले यदि सही हैं, तो भी यह आवश्यक है कि विश्व के राष्ट्र एक साथ या पृथक्-पृथक् रूप से पुलिस कार्रवाई के रूप में भी शक्ति-प्रयोग और युद्ध की तैयारी के साधनों के पूर्ण रूप से त्यागने के लिए रास्ता निकालें। यह तात्कालिक आवश्यकता है, दूर का लक्ष्य नहीं।

परिणामों से डरना क्या कोई खराब बात है? सही रास्ता अपनाने के लिए यह सर्वोत्तम नहीं है, लेकिन यह ऐसा प्रस्थान-बिन्दु है, जहाँ से भ्रान्त विश्व आगे कदम बढ़ा सकता है। 'तू अपने कृत्य के लिए पश्चात्ताप कर, अन्यथा तुझे भी उसी प्रकार नष्ट हो जाना पड़ेगा' हिरोशिमा और नागासाकी की यह सर्वोत्तम शिक्षा है। यह खेद ही काफी नहीं है कि ऐसे कृत्य के भी कुछ परिणाम हो सकते हैं। हमने पापकर्म किये हैं और जो परिणाम हैं, वे हमारे पापकृत्य के ही हैं। जब तक इस बात को हममें से कम-से-कम कुछ लोग स्वीकार नहीं करते, तब तक मैं नहीं समझती कि हमारा कदम अपने विचार तथा व्यवहार के तरीके बदलने और अपने बच्चों को उस विचार तथा व्यवहार के तरीके सिखाने की दिशा में कैसे बढ़ सकता है।

आंशिक निरस्त्रीकरण समझौते के लिए जो प्रयास अब तक किये गये

हैं, उनमें हमारे विचार के तरीके बदलने की दृष्टि से कोई बड़ी बात नहीं है। हम अब भी राष्ट्रीय लाभ और शक्तिप्रधान राजनीति की ही बात सोचते हैं, हम अब भी अपने ही रास्ते से चलना चाहते हैं और दूसरे देशों के लोगों से अच्छी स्थिति में रहना चाहते हैं। यह खेल पारमाणविक तथा अन्य महाविनाशकारी अस्त्रों के बिना भी हो सकता है, लेकिन यह युद्ध की ओर ले जानेवाला है। एक बार युद्ध भारी पैमाने पर शुरू हुआ, तो किसी भी प्रकार का अस्त्र बनने और प्रयुक्त होने की सम्भावना है। आंशिक निरस्त्रीकरण सार्वदेशिक हो, तो वह भी इस अवस्था को न बदल सकेगा।

मान लीजिये कि सोवियत रूस, अमेरिका तथा राष्ट्रसंघ के दूसरे राष्ट्र अन्ततः पूर्ण स्थलीय निरीक्षण तथा निश्चित सीमा तक अपनी सेना घटाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं। इसका अर्थ यह भी होगा कि गोपनीय तथा अन्य अनुसन्धान-कार्य करनेवाली सभी प्रयोगशालाएँ खोल देनी पड़ेंगी और इस निरस्त्रीकरण के साथ अनेक वैज्ञानिक तथा प्राविधिक निरीक्षक रखने होंगे। इन लोगों को सभी क्षेत्रों में सच्चे अर्थों में विशेषज्ञ होना पड़ेगा, क्योंकि उन्हें केवल यही न समझना होगा कि क्या किया जा रहा है, बल्कि यह भी समझना होगा कि किसी काम का परिणाम क्या हो सकता है। रासायनिक तथा कीटाणविक युद्धों के अस्त्रों का पता लगाने में कितनी कठिनाई है, इसे एक बार इस प्रकार स्पष्ट किया गया था कि ये अस्त्र तो किसी भी मद्य-निर्माणशाला में बनाये जा सकते हैं। यदि इसके फलस्वरूप मद्य-निर्माणशालाएँ समाप्त करनी पड़ें, तो हम जैसे बहुत लोगों को कोई आपत्ति नहीं होगी।

यह सारा कार्य शायद किया जा सकता है, लेकिन इस समय ऐसा कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ता कि इसके लिए प्रारम्भिक कदम भी उठाये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए व्यवसाय के आधार पर काम करनेवाले वैज्ञानिक संगठनों से ऐसी कोई पूछताछ नहीं की गयी है कि क्या वे ऐसे काम के लिए प्रशिक्षण चाहेंगे। यदि ऐसी पूछताछ हुई, तो कम-से-कम उन वैज्ञा-

निकों, समितियों और परिषदों से तो नहीं हुई है, जिनके विषय में मुझे जानकारी है। इस प्रश्न की किसी भी प्रकार की उपेक्षा से मुझे इस बात में गम्भीर सन्देह होता है कि हमारे वर्तमान निरस्त्रीकरण प्रस्तावों में ईमानदारी भी है। फिर भी हमें मान लेना चाहिए कि उनमें ईमानदारी है। उस प्रस्ताव से फिर हम किधर आगे बढ़ेंगे ?

इस समय की दिखावटी निरस्त्रीकरण-योजनाओं में ऐसी आशा निहित रहती है कि जिन राष्ट्रों के पास पारमाणविक अस्त्र हैं, वे आगे चलकर आत्मरक्षा के अलावा और किसी भी प्रकार से उनका प्रयोग न करेंगे और फिर बाद में चलकर अपने पारमाणविक अस्त्रों का स्टाक नष्ट कर देंगे। उन अस्त्रों में परमाणु शक्ति उत्पन्न करनेवाली जो सामग्री है, वे उसे न्यष्टि शक्ति-केन्द्रों में उपयोग तथा अन्य शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए रख लेंगे। लगातार वैमानिक तथा स्थलीय निरीक्षणों से निरस्त्रीकरण समझौते के उल्लंघन की सम्भावना न रह जायगी। यदि उल्लंघन होगा, तो पहले से सावधान रहने के फलस्वरूप सभी राष्ट्र अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध एक साथ हो जायँगे। यदि सब काम ठीक से चला और उल्लंघन न हुए, तो आगे के समझौते के लिए मार्ग प्रशस्त होगा। इसके फलस्वरूप अन्ततः सेना और अस्त्रों को घटाकर उस सीमा तक कर दिया जायगा, जितना आन्तरिक सुरक्षा के लिए जरूरी हो तथा राष्ट्रसंघ या किसी अन्य प्रकार के विश्व-संगठन के कार्य में योगदान के लिए देना पड़े। राष्ट्रसंघीय सेना इतनी ही बड़ी होगी कि वह एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के सशस्त्र हमले को समाप्त कर सके। राष्ट्रसंघीय सेनाओं का शायद सभी प्रकार के पारमाणविक अस्त्रों पर एकाधिकार कायम रहेगा।

इस क्रमिक पद्धति का स्पष्ट लाभ यह है कि इसमें केवल प्रशासनिक तथा प्राविधिक प्रश्न ही निहित हैं, इसमें बहुसंख्यक जनता के हृदय-परिवर्तन की कोई बात नहीं है। सेना तथा हथियार में कमी राजनीतिक विचारों में कोई बड़ा परिवर्तन किये बिना हो सकती है। यदि समझदारी

के साथ नियोजित ढंग से काम हो, तो सेना से निवृत्ति के फलस्वरूप कोई बेकारी न होगी और हथियार बनाने के कारखानों का स्वरूप बदलने से उद्योग अस्त-व्यस्त न होंगे। इसका निश्चित परिणाम यह अवश्य होगा कि सभी देशों की आर्थिक स्थिति सुधरेगी और विश्व के साधनों का संचय विश्व की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होगा। यह अवस्था स्वयं निरस्त्रीकरण के लिए प्रोत्साहित करेगी और शायद इस सीमा तक प्रोत्साहित करेगी कि निरीक्षण-कार्य करनेवाले अन्य लोगों तथा वैज्ञानिकों की आवश्यकता ही न रह जाय। छिपाये हुए हथियार के लिए सामान्य स्थिति में हमें घरों की तलाशी नहीं लेनी पड़ती, अशान्ति की स्थिति में भले ही इसकी जरूरत पड़ जाती हो।

मैं यह नहीं कहती कि यह क्रमिक पद्धति बेकार है या ईमानदारी से पालन किये जाने पर यह सफल न होगी। मुझे जो बात बेकार लगती है, वह यह कि रह-रहकर इसके लिए गुटबाजी के साथ प्रयास किया जाता है, इसके साथ-साथ जर्मनी और जापान के शस्त्रीकरण के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है, बड़े राष्ट्र पारमाणविक परीक्षण बन्द करने के लिए भी तैयार नहीं होते तथा शस्त्रीकरण की होड़ रोकने के लिए एक ओर तो समझौते पर जोर देते हैं और दूसरी ओर स्कूलों में सेनाओं तथा प्रचार के द्वारा सैनिक प्रशिक्षण और युद्धवादी विचार को जारी रखते हैं। यह मूर्खता कोई एक ही बड़ा राष्ट्र नहीं कर रहा है।

जब ह्वाइट हाउस बहुत नैतिकताभरे शब्दों में रूस के पारमाणविक परीक्षण जारी रखने के विरुद्ध अपने 'धर्मोपदेश' प्रचारित करता है और दूसरी ओर अमेरिका स्वयं ऐसे परीक्षण जारी रखता है, तब किसीको भी ऐसा लगता है कि अपने सही होने का प्रदर्शन करने के लिए कोई भी ढोंग रचा जा सकता है।

'शान्ति-शान्ति' चिल्लाने के बावजूद रूसी सरकार अब भी लाखों युवकों तथा युवतियों को ही नहीं, स्कूली बच्चों तक को सैनिक प्रशिक्षण दे

रही है और सिखा रही है कि प्रतिरक्षात्मक युद्ध अच्छी चीज है। पूर्ण निरस्त्रीकरण का उसका पुराना आदर्श फिर कभी नहीं दुहराया गया। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि हमारी ही तरह रूसी भी यह समझते हैं कि निरस्त्रीकरण और साम्राज्य साथ-साथ नहीं चल सकते, जब कि राष्ट्र-मण्डल साथ-साथ चल सकता है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सार्वदेशिक पूर्ण निरस्त्रीकरण की निगरानी करना सार्वदेशिक आंशिक निरस्त्रीकरण की निगरानी से कहीं कम कठिन होगा। किसी भी प्रकार के शस्त्रीकरण के लिए सैनिक संगठन और सैनिक प्रतिष्ठानों की आवश्यकता होती है। यह आमतौर पर स्वीकार किया जाता है कि परमाणु तथा उद्जन अस्त्रों का जो निर्माण हो चुका है और जिसका संचय तेजी से बढ़ रहा है, उसे 'चेक' नहीं किया जा सकता और न ही शस्त्रीकरण की होड़ पर नियंत्रण तथा निगरानी चल सकती है। व्यापक निरस्त्रीकरण की दिशा में प्रत्येक कदम को 'चेक' करने के साधन के रूप में ही यह प्रभावशाली हो सकता है। आंशिक निरस्त्रीकरण की निगरानी के लिए रखे गये निरीक्षक-मण्डल के लिए केवल यही जिम्मेदारी न होगी कि वह ऐसे नये अनुसन्धानों के कार्य-कलापों पर नजर रखे, जो कहीं अब तक अज्ञात नये अस्त्र न बना लें। उसे ऐसे कार्य-कलापों की भी रिपोर्ट देनी पड़ेगी, जो एक सीमा तक ही किये जा सकते हैं, उस सीमा से अधिक नहीं। सन्देह का एक वातावरण बना रहेगा, क्योंकि राष्ट्रीय विचारों से तो युद्ध की समाप्ति नहीं हो गयी रहेगी और युद्ध में धोखा, शत्रुता और अविश्वास की भावना रहती ही है।

पूर्ण निरस्त्रीकरण आंशिक निरस्त्रीकरण का चरम रूप न होगा। यह बिल्कुल भिन्न कुछ और ही चीज होगा और इसके नियंत्रण तथा निरीक्षण का स्वरूप कुछ और ही होगा। इस समय हमारा रवैया कुछ ऐसा ही है कि "यदि तुम हमारी नाक काटोगे, तो हम तुम्हारी नाक काट लेंगे। लेकिन यदि तुम मंजूर करो कि हमारी नाक न काटोगे, तो मैं तुम्हारी नाक न

काटूँगा, तथापि मैं इस बात का ध्यान जरूर रखूँगा कि तुम चाकू की धार तो तेज नहीं कर रहे हो।" जरूरत इस बात की है कि हम नर-संहार के प्रति, युद्ध के अपराध के प्रति लोगों में भय की भावना जाग्रत करें।

पूर्ण निरस्त्रीकरण का अर्थ सैनिक संगठन का, अस्त्र-शस्त्र निर्माण करनेवाले कारखानों का, भूमि-सेना, नौसेना और नभसेना का समापन ही नहीं होता, अपितु स्त्रियों और पुरुषों को युद्ध के विचार से घृणा करने की शिक्षा देना भी होता है। फिलहाल यदि मान लिया जाय कि यह हो सकता है, तो इसका यह अर्थ होगा कि हर स्त्री-पुरुष इस बात की निगरानी रखेगा कि उसके देश में किसी भी रूप में सैनिक संगठन, गुप्त सैनिक अनुसंधान, हथियारों का निर्माण अथवा संग्रह न होने पाये। जहाँ सैनिक संगठन नहीं होता, वहाँ गोपनीयता की कोई जरूरत नहीं होती। यदि गोपनीयता न रखी जाय, तो सैनिक संगठन छिपाये नहीं जा सकते। यदि निरस्त्रीकरण पूर्ण निरस्त्रीकरण हो, तो किसी भी प्रकार का सैनिक संगठन या सैनिक अनुसन्धान गैरकानूनी होगा और स्वयं उस देश में उसे गैरकानूनी समझा जायगा। कुछ होने की अपेक्षा 'कुछ भी न होना' निरस्त्रीकरण का कहीं अच्छा मापदण्ड है। शायद कुछ समय तक सभी राष्ट्रों के वैज्ञानिकों और इन्जीनियरों को सेवा में रखने से (जैसा कि मैंने पहले कहा है) न्यष्टि शक्ति-केन्द्रों से खतरा न रहेगा, लेकिन बिना सैनिक संगठन के शस्त्रीकरण ही बेकार होगा। यही स्थिति गुप्तचरों की भी होगी।

वास्तव में आवश्यक बात यह है कि न केवल एक देश में, अपितु प्रत्येक देश में स्त्रियाँ और पुरुष युद्ध से और युद्ध की तैयारियों से घृणा करना सीखें। उन्हें युद्ध से इस सीमा तक घृणा करना सीख लेना चाहिए कि वे युद्ध और शक्ति-प्रयोग के अभाव के फलस्वरूप होनेवाले हेरफेरों को स्वीकार कर लें। वयस्क शिक्षा के किसी भी व्यापक प्रयास में इस

विषय में साफ विचार होना बहुत जरूरी होगा। युद्धरहित संसार के बच्चों की शिक्षा बिल्कुल सीधी-सादी होगी। इसमें सन्देह नहीं कि वे तब भी उसी प्रकार लड़ेंगे, जिस प्रकार नरसंहार करनेवाला व्यक्ति सुधर जाने पर भी गोभी का फूल काटने में कोई घबराहट नहीं अनुभव करता, लेकिन बच्चों की उठापटक और संहारकारी युद्ध में, श्रेणी का नहीं, प्रकार का अन्तर है। दोनों में वही अन्तर है, जो छोटे नाले और अतल समुद्र में होता है। उद्योगीकृत संसार में जो युद्ध होगा, वह वैज्ञानिक अस्त्रों का युग होगा, हालाँकि कुछ समय तक और जब तक प्राविधिक शिक्षा का व्यापक प्रसार न हो जाय तब तक, सीमित रूप में युद्ध का होना सम्भव है। हो सकता है कि बच्चों या वयस्कों के बीच होनेवाले ये झगड़े उस व्यवहार की जड़ हों, जो आगे चलकर सामुदायिक संघर्ष का रूप लेता है, किन्तु बच्चों के व्यवहार के दूसरे रूप भी होते हैं, जिन्हें समाजविरोधी माना जाता है। इन व्यवहारों को समाज में दबाया जाता है और कुछ बच्चों में स्वाभाविक रूप से होने के बावजूद इन्हें राष्ट्रीय व्यवहार का बुनियादी सिद्धान्त नहीं माना जाता।

युद्ध की तैयारी तथा अनिवार्य रूप से सैनिक भर्ती को राष्ट्रीय जीवन का आवश्यक अंग माने जाने में बुराई यह है कि इसके फलस्वरूप उन प्रवृत्तियों को राष्ट्र-भक्ति समझ लिया जाता है, जो वस्तुतः समाजविरोधी हैं। दूसरे देशों से मतभेद और राष्ट्रभक्ति का संवेग बढ़ाने के लिए प्रचार का हर तरीका अपनाया जा सकता है और प्रायः अपनाया जाता है। जो हमारा विरोध करते हैं, उनको गाली देना उचित और संयम-पूर्ण मान लिया जाता है। उनकी कमजोरियों का पर्दाफाश किया जाता है और यह नहीं सोचा जाता कि यह स्थिति लाने में स्वयं हमारे व्यवहार का कहाँ तक हाथ है और क्या हम इसके निवारण के लिए कुछ कर सकते हैं।

बच्चों का ऐसा स्वभाव होता है कि उन्हें जोखिम भरे और बहादुरी

के काम पसन्द आते हैं। सैनिक प्रचार कुछ ऐसे ढंग से किया जाता है कि यह भावना जाग्रत हो। कोई भी राष्ट्रीय जुलूस तब तक पूरा नहीं समझा जाता, जब तक उसमें सेनाएँ न हों। जुलूस में वे सेनाएँ रंग-बिरंगी वर्दी पहने हुए, घोड़ों पर सवार और बैण्ड पर सैनिक धुन बजाते हुए चलती हैं। हमने पुराने ढंग के असैनिक मेलों और उत्सवों का प्रायः एकदम परित्याग कर दिया है, यह बहुत दुःख की बात है।

हमारे बहुत-से पब्लिक स्कूलों में छात्रों को ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे सैनिक कार्य को सम्मानजनक व्यवसाय समझें। युद्ध करने में साहस, धैर्य, आत्मत्याग, चतुराई और दक्षता जैसे कई सराहनीय गुण आवश्यक होते हैं, इसलिए सैनिक कार्य को सम्मानजनक समझने की भावना को बल मिलता है। यही स्थिति आमतौर पर प्रचलित इन खयालों की है कि युद्ध निर्बलों का बचाव तथा न्याय की रक्षा करता है और आदर्शों का संरक्षक है। लेकिन यह सत्य नहीं है। युद्ध ने कभी निर्बल की रक्षा की होगी, लेकिन अब युद्ध निर्बलों का बचाव नहीं करता। आधुनिक युद्ध में निर्बल और सबल समान रूप से पीड़ित होते हैं। लेकिन युद्ध की तैयारियाँ सारे संसार में निर्बलों के लिए बहुत बड़ा बोझ होती हैं। स्त्रियाँ, पुरुष और बच्चे लाखों-करोड़ों की संख्या में पीड़ित होते हैं; क्योंकि जो धन और प्रयास उनकी सहायता करने में लगता, वह सभी धनी राष्ट्रों में सैनिक संगठन, सैनिक प्रदर्शन, सैनिक अनुसन्धान, सैनिक सम्पूर्ति और सैनिक प्रशिक्षण में लग रहा है।

युद्ध न्याय की रक्षा नहीं करता। न्याय के लिए विश्व के साधनों का कहीं अधिक उचित वितरण आवश्यक होगा। शक्तिशाली राष्ट्र न्याय का जो अर्थ समझते हैं, वह न्याय का बिल्कुल उलटा है। अपने हितों की रक्षा करने और अपने लाभ के लिए सन्धियाँ लागू कराने को ही वे न्याय समझते हैं। यदि इन कार्यों को स्वार्थ समझा जाय, तो युद्ध की सम्भावना न रह जाय और युद्ध-सेवा को सम्मानजनक समझा जाना बन्द हो जाय।

स्त्री-पुरुष साहस और आत्मत्याग प्रदर्शित कर सकते हैं और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करने की अपेक्षा पीड़ितों की सहायता के रूप में उस साहस और आत्मत्याग का कहीं अच्छा उपयोग किया जा सकता है। युद्ध के लिए पुरुष और स्त्रियाँ बड़ी-बड़ी कठिनाइयों और खतरों का सामना कर सकते हैं, वे अपना जीवन-स्तर घटाने के लिए राजी हो सकते हैं, उन्हें युद्ध में 'रक्त, श्रम, आँसू और पसीने' की अंजलि भेंट दी जा सकती है और वे इसे स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन हमेशा ऐसा माना जाता है कि वे शान्ति के लिए ऐसा नहीं कर सकते। वे क्यों ऐसा नहीं कर सकते ? क्या इसलिए कि शान्ति उन्हें बहुत कम संवेगात्मक प्रेरणा देती है ? क्या ऐसा होना चाहिए ?

किसी राष्ट्र को यह समझा देना आसान है कि वह न्याय के लिए या आदर्शों के रक्षार्थ लड़ रहा है, क्योंकि वह समझता है कि शत्रुओं की सामरिक कार्रवाइयों में बुराई है, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि हमारी कार्रवाइयों में भी ऐसी ही बुराई है। युद्ध कभी भी आदर्शों की रक्षा नहीं कर सकता, वह उन्हें नष्ट कर देता है। ऐसा नहीं हो सकता कि आदर्शों को बेकार सामानों की कोठरी में फेंक दिया जाय और फिर जब जरूरत हो, तो वहाँ से उन्हें फिर उठा लिया जाय। ऐसी स्थिति में वे आदर्श क्षय हो जाते हैं। उपेक्षा करने से नैतिकता का ह्रास होता है, इसीलिए युद्ध के प्रारम्भ में जिसे सांघातिक माना जाता है, उसे युद्ध के समय में जीत के लिए आवश्यक मानकर उचित समझ लिया जाता है। युद्ध में लाखों निर्दोष व्यक्तियों की मौत, उत्पीड़न, सतत कष्ट, घरों की बर्बादी और प्रिय जनों का बिछोह होता है। क्या न्याय के प्रश्रय या आदर्श की रक्षा का यही तरीका है ? निश्चित रूप से नहीं है।

मेरा विश्वास है कि यदि वास्तविक सुरक्षा जैसी कोई चीज है, तो वह अन्यायरहित और शस्त्ररहित संसार में ही सम्भव हो सकती है। सम्यक् सुरक्षा के लिए आंशिक निरस्त्रीकरण का फार्मूला ढूँढ़ने का निरर्थक प्रयास

करने के बजाय यदि बड़ी शक्तियाँ एक साथ बैठ सकें और साफ-साफ स्वीकार कर लें कि यह प्रयास बेकार है, तो हम किसी जगह पर पहुँच जायेंगे। तब हम निश्चित रूप से बुद्धिमानी से बात करेंगे और उससे सन्देह-निवारण तथा वास्तविक समस्याओं का मिलकर सामना करने की शुरुआत होगी, एक ओर अन्याय का अन्त होगा और दूसरी ओर सैनिक संगठन की समाप्ति होगी। ●●●

चौदहवाँ अध्याय

विन्सटन चर्चिल और फ्रैंकलिन रूजवेल्ट द्वारा १९४१ में तैयार किया गया अतलान्तक घोषणापत्र कई घोषणाओं का प्रस्थान-बिन्दु बना, फिर उन घोषणाओं ने राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र का रूप लिया। अतलान्तक घोषणापत्र में कहा गया था :

'विश्व के सभी राष्ट्रों को यथार्थवादी तथा आध्यात्मिक कारणों से शक्ति-प्रयोग का परित्याग करना होगा।'

यह हिरोशिमा पर पहला परमाणु बम छोड़े जाने से चार साल और आज से १५ वर्ष पहले की बात है, जब अमेरिका द्वितीय महायुद्ध में नहीं उतरा था। यदि उस समय शक्ति-प्रयोग का परित्याग यथार्थवादी था, तो आज तो वह बहुत ही अधिक यथार्थवादी है। मैं नहीं समझती कि यह असम्भव होगा। मैं समझती हूँ कि आगे हमारे सामने इतनी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं कि उनका सामना करने के लिए हमारे विचार तथा व्यवहार के तरीकों में बहुत बड़े परिवर्तन जरूरी होंगे। ये परिवर्तन दो मार्गों से हो सकते हैं। एक तो है अनुभव, इतिहास और वास्तविकता की बाध्यताएँ, जो कठोर और कटु मार्ग है। दूसरा मार्ग दूरदर्शिता, तैयारी और सोच-विचार का है, जो हमें नैतिक दृष्टि से बाध्य करता है। यह भी कम कठिन नहीं है, लेकिन कटु नहीं है।

किन्तु अधिकांश लोग सोचने-विचारने का प्रयत्न नहीं करते। वे दूसरों के पीछे चलने के अत्यधिक अभ्यस्त हो गये हैं। वे बहुत बड़ा साहस और त्याग करने में समर्थ हैं, किन्तु सामान्यतः बिना नेतृत्व के वे वह भी नहीं कर सकते। ऐसा नेतृत्व दो प्रकार का है। पहला है बाह्य नेतृत्व और दूसरा है आन्तरिक नेतृत्व। प्रायः दूसरे प्रकार का नेतृत्व पहले प्रकार के

नेतृत्व से पहले आता है। जो लोग परिवर्तित विचार की स्पष्ट आवश्यकता देखते हैं, उन्हें स्वयं नये ढंग से सोचने की आदत बनानी पड़ेगी और दूसरों को भी ऐसा करने के लिए राजी करना होगा। व्यक्तिगत शान्तिवादिता यदि राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिवादिता नहीं बन सकती, तो भी परिणाम समझनेवालों को अपने विश्वास और विवेक के प्रति निष्ठावान् रहना चाहिए और इस बात की परवाह न करनी चाहिए कि उनका व्यक्तिगत प्रयास राजनीतिक दृष्टि से कितना प्रभावहीन और बेकार हो रहा है।

जान बूल्मैन ने जब साफ देखा कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का गुलाम बनाया जाना और मानव का खरीदा तथा बेचा जाना बुरा है, तो उन्होंने पहले यही निश्चय किया कि मैं स्वयं ऐसी प्रथा का लाभ न उठाऊँगा। उसके बाद उन्होंने गुलामों की सेवा से किसी प्रकार का लाभ या सुविधा उठानी बन्द कर दी। गुलामों के ऐसे मालिकों को, जो उनके मित्र थे, अपने विचार समझाते रहे और उन मित्रों के घरों में आराम देने के लिए गुलामों को पारिश्रमिक देते थे। गुलामी के श्रम से तैयार की गयी चीनी खाने से उन्होंने इनकार कर दिया। उन्होंने अपने क्वेकर साथियों को इस बात के लिए राजी करने को अपना मिशन बना लिया कि वे गुलाम रखना छोड़ें। क्वेकरों ने वैसा किया भी। इसके साथ ही दूसरे लोग एक ओर धर्मगुरुओं को और दूसरी ओर संसद् को यह समझकर राजी करने के लिए प्रयास कर रहे थे कि सच्चे न्याय के लिए शायद गुलाम रखनेवालों को मुआवजा भी देना पड़ सकता है।

यह बिल्कुल ठीक कहा गया है कि ब्रिटेन ने समय रहते ही अर्थात् औद्योगिक क्रान्ति के पहले गुलामी प्रथा का परित्याग कर दिया। यदि गुलाम यंत्र की बात सोचनेवाले हो गये होते, तो गुलामी प्रथा और गुलामों का व्यापार रोकना बहुत कठिन हो गया होता। दूसरे देशों ने गुलामी नहीं समाप्त की थी, यह तथ्य ब्रिटेन को एक बार बुराई नष्ट हो जाने पर

गुलामी की प्रथा समाप्त करने से नहीं रोक सका। हमारी राष्ट्रीय चेतना को कोई बात अप्रिय लग जाय, तो हम अपनी हानि होने पर भी एक-पक्षीय कार्रवाई कर सकते हैं। यदि हम अपने कार्य के वर्तमान ढंग की वाहियाती को ही नहीं, बल्कि सम्भावित आर्थिक परिणामों और तात्कालिक जोखिमों को समझकर इस महती आवश्यकता को भी समझ सकें कि राजनीतिक दृष्टि से परिपक्व होने का दावा करनेवाले हम अंग्रेजों को आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए, तो मेरा खयाल है कि आवश्यकता होने पर हम सैनिक संगठन के क्षेत्र में भी एकतरफा कदम उठा सकते हैं।

युद्ध का विरोध करनेवाले लोग जिन न्यायाधिकरणों के सामने पेश किये गये, उन्होंने युद्ध के पक्ष में यदा-कदा इस तथ्य को प्रस्तुत किया कि गुलामों को स्वतंत्र करने के लिए अमेरिका में गृहयुद्ध करना पड़ा था। उस संघर्ष के कारण जो भी रहे हों, लेकिन आज भी दक्षिण अमेरिका में जो कटुता बनी हुई है, वह प्रकट करती है कि मतभेद का अन्त करने के लिए वह तरीका गलत ही नहीं, मूर्खतापूर्ण भी था। शक्तिप्रयोग और स्वार्थ दोनों के तिरस्कार के लिए जनमत तैयार करना स्थायी सद्भावना के लिए पूर्ण रूप से आवश्यक है।

मैं लिख चुकी हूँ कि ऐसा करने के लिए आवश्यक होगा (और कोई कठिन भी नहीं है) कि बच्चों को शान्ति के तरीके समझाये जायँ। निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर जो राष्ट्रनायक समझौता नहीं कर सके, वे इधर ध्यान दे सकते हैं। यह अपेक्षाकृत आसान काम होगा। कभी-कभी लोग ऐसा कहते हैं कि राष्ट्रों को युद्ध-मंत्रियों के स्थान पर शान्ति-मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि परराष्ट्र विभाग वस्तुतः शान्ति-मन्त्रालय ही है। लेकिन इस विभाग का काम तो इस कथन की पुष्टि नहीं करता। हमें कहीं ऐसा देखने को नहीं मिलता कि परराष्ट्र-विभाग अधिकारियों को स्कूलों में बच्चों को यह शिक्षा देने के लिए भेजता हो कि लड़ाई इस युग की चीज नहीं रह गयी है, वह नृशंस अतीत की

वस्तु थी, युद्ध के लिए जो साहस और त्याग होता था, उसका उपयोग शान्ति-कार्य में होना चाहिए। इसके बिल्कुल विपरीत हम देखते यह हैं कि आज भी प्रशिक्षार्थी सैनिक दल, अधिकारी प्रशिक्षार्थी दल, लड़कों की बटालियनें तथा ऐसे अन्य संगठन हैं, जो बच्चों को अब भी कुएँ में कूदने और पिछले पचास वर्षों की शिक्षा की उपेक्षा करने की शिक्षा देते हैं।

मैं समझती हूँ कि राजनीतिज्ञों तथा धर्मगुरुओं द्वारा पथ-प्रदर्शन न किये जाने पर शिक्षक स्वयं इस समस्या पर गम्भीरता से विचार कर सकते हैं और उन्हें ऐसा विचार करना चाहिए। बच्चों को मिलनेवाली शिक्षा का रूप बराबर बदलता जा रहा है। उसमें संसार की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किये जाते रहते हैं। यह बात रूस जैसे देशों में विशेष रूप से है, जहाँ प्राविधिक प्रगति की आवश्यकता समझकर प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर की शिक्षा में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक पक्ष को विशेष रूप से प्रधानता दी जाती है। चीन में भी सफाई तथा भ्रष्टाचार-उन्मूलन के लिए बच्चों ही नहीं, वयस्कों की भी भारी पैमाने पर शिक्षा हो रही है और उसमें इन दोनों बातों को प्रधानता दी जा रही है। चीन में जो कुछ है या उसे प्राप्त करने के लिए जो तरीके अपनाये गये हैं, उनकी आलोचना का कुछ भी आधार हो, लेकिन जिन लोगों ने चीन की यात्रा की है, वे इस बात की प्रशंसा किये बिना न रहेंगे कि वहाँ एक ओर मक्खियों और दूसरे दुःखदायी तथा हानिकर कीट-पतंगों का उन्मूलन कर दिया गया है और दूसरी ओर घूसखोरी के अन्त तथा व्यापार में ईमानदारी को सफलता-पूर्वक प्रश्रय दिया गया है।

एक क्षेत्र में जो कुछ किया जाता है, वह जनतंत्रीय परम्परा से मेल खानेवाले साधनों से दूसरे क्षेत्र में भी किया जा सकता है। अभिभावक-शिक्षक संघों को ऐसे विश्व की समस्याओं पर विचार करना चाहिए, जिसमें युद्ध कल्पना से परे की वस्तु हो जाय। जैसा कि मैं समझती हूँ, यदि ऐसे परिवर्तन के लिए विवेक और चेतना आ जाय, तो कहीं पर भी ऐसे विचार

का सूत्रपात करने के लिए बहुत थोड़ा साहसभर करने की जरूरत होगी। तब अधिकांश अभिभावक स्कूलों में सैनिक शिक्षा जारी रखने के पक्ष में होंगे, मुझे इसमें सन्देह है। सैनिक शिक्षा खतम करने से इस आधार पर आनाकानी की जा सकती है कि यदि हमारी शिक्षा-प्रणाली को जबर्दस्ती युद्धहीन संसार के लायक बनाया गया, तो दूसरे राष्ट्र हमारे आदर्श का अनुसरण न करेंगे। यदि हम दूसरों के द्वारा आदर्श स्थापित किये जाने की प्रतीक्षा करेंगे, तो हमें स्वयं लज्जित होना पड़ेगा और यदि हम एक साथ समझौता होने की प्रतीक्षा करेंगे, तो हमें हमेशा प्रतीक्षा ही करनी होगी।

बच्चे, यद्यपि कभी-कभी लड़ते हैं, तथापि वे मित्रता रखने को बहुत इच्छुक रहते हैं। वे एक-दूसरे पर 'मुख में राम बगल में छूरी' रखने का सन्देह नहीं करते। वे राष्ट्रीय सीमाओं के बारे में न तो कुछ जानते हैं और न उसकी चिन्ता करते हैं; और उनमें तब तक जातिगत द्वेष की भावना नहीं आती, जब तक उन्हें इसकी शिक्षा न दी जाय।

You've got to be taught, before it's too late,
Before you are six, or seven, or eight,
To hate all the people your relatives hate.
You've got to be carefully taught.

अर्थात्

बहुत जल्द ही बच्चो, होगा तुम्हें सिखाना
छह या सात, आठ की 'वस्था के पहले ही
जिनसे सम्बन्धी करते हैं घृणा तुम्हारे, उन लोगों से नफरत करना।
बहुत सावधानी से होगा तुम्हें सिखाना।

---

* रिचर्ड रोजर्स और ओस्कर हैमस्टोइन लिखित 'साउथ पैसिफिक' के गीत 'यू हैव गाट टु बी केयरफुली टॉट' से।

वे शान्ति और सहयोग के तरीके सीखने के लिए तैयार हैं और उनसे व्यक्ति के रूप में हम जैसे व्यवहार की आशा करते हैं, उसका युद्ध तथा राष्ट्रीय स्वार्थ की अपेक्षा इन तरीकों से अधिक मेल है। यदि वे स्वार्थी होते हैं, तो हम उन्हें अपने खिलौने दूसरों को भी देने की शिक्षा देते हैं। हम उन्हें सिखाते हैं कि सच बोलना अच्छा है, झूठ बोलना खराब, दया करना अच्छा है, निर्दय होना खराब।

हम ऐसा इसलिए नहीं करते कि हम परमात्मा के अस्तित्व और प्रकृतिसम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों में आस्था रखते हैं, और न इसलिए ही करते हैं कि हम जान-बूझकर आचारनीति के कतिपय सिद्धान्तों को व्यवहार में उतारना चाहते हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि यदि लोग एक-दूसरे से सहयोग करें, यदि लोगों की बातों में विश्वसनीयता हो और यदि निर्दयता कम की जा सके, तो जीवन का ज्यादा भरोसा रहता है और वह अधिक उपयुक्त होता है। जब मैं 'हम' शब्द का प्रयोग करती हूँ, तो मेरा तात्पर्य अधिकांश सामान्य माताओं-पिताओं से होता है। कुछ माँ-बाप अपने बच्चों को चोरी करना सिखाते हैं, इसलिए हम भी तो अपने बच्चों को चोरी की शिक्षा नहीं देने लगते। कुछ देशों या कुछ स्थितियों में आदर्शों में अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, कुछ लोग केवल सत्य-भाषण की अपेक्षा विनम्रता और आवभगत को अधिक जरूरी समझ सकते हैं। एक बार जब हम निश्चय कर लेते हैं कि हमारे बच्चों की कैसी शिक्षा होनी चाहिए, तो हम इन आदर्शों से मेल खाने के लिए अपने मूल्यों को नहीं बदलते।

हमारे मूल्य और आदर्श कुछ भी हों, बच्चे उन्हें बहुत जल्दी अपना लेते हैं और बचपन में जो कुछ सिखाया-पढ़ाया जाता है, उसकी गाढ़ी छाप पड़ती है। अंग्रेजों और अमेरिकनों ने जब जर्मनी में डॉक्टर अडा-नावर को अनिवार्य सैनिक भर्ती के लिए प्रोत्साहित किया, तो उन्होंने यही बात देखी। युद्धोत्तर पीढ़ी के जर्मन तरुणों ने, जिन्हें पढ़ाया गया था

कि सैनिकवाद बुरा और मूर्खतापूर्ण है, एक के बाद एक अनेक स्थानों पर पुनर्शस्त्रीकरण का कड़ा विरोध किया। उनका विरोध हमेशा अनुशासित और अहिंसात्मक ही नहीं होता था, क्योंकि उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सैनिक आधिपत्य और उथल-पुथल के युग में हुई थी।

नया विश्व सह-अस्तित्व ही नहीं, उससे भी कहीं अधिक चाहता है। वह शान्ति एवं सहयोगपूर्वक साथ रहने के तरीके चाहता है। इन तरीकों को ढूँढ़ने में शान्ति के सिद्धान्तों की शिक्षा पाये हुए तरुण अधिक सहायक हो सकते हैं। जोखिम उठाने की भावना, बहादुरी तथा जीवन में मित्रतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने की कोई जरूरत नहीं है। बच्चे साहसिक कार्य इतना पसन्द करते हैं कि वे इसके लिए सुरक्षा का खतरा उठाने के लिए भी तैयार रहते हैं और माँ-बाप उन्हें ऐसा करने देते हैं। भावी संसार में, जहाँ नयी वैज्ञानिक तथा प्राविधिक प्रणालियों का प्राचीन तथा आदिम संस्कृतियों पर असर पड़ेगा, खतरनाक और रोंगटे खड़े करा देनेवाले साहसिक कार्यों के लिए, साहसपूर्ण प्रयोगों के लिए काफी स्थान रहेगा।

कोई भी सरकार, जो युद्ध-कौशल के स्थान पर सचमुच शान्तिपूर्ण परिवर्तन का कौशल अपनाना चाहती हो, तरुणों के लिए इस परिवर्तन-कार्य में सहयोग, प्रशिक्षा और दौरा करने का काफी काम पा सकती है। यह मार्ग अंशतः पहले से ही दिखाई पड़ चुका है। १९५० में राष्ट्रसंघ द्वारा स्थापित किये गये शान्ति-निरीक्षण आयोग में काफी पर्यवेक्षक हैं। इस आयोग को यह काम सौंपा गया है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के किसी भी क्षेत्र में, जहाँ तनाव की स्थिति का रहना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए खतरनाक हो सकता है, स्थिति पर दृष्टि रखे और अपनी रिपोर्ट दे। इसके पर्यवेक्षकों ने बहुमूल्य सेवा की है। अपनी उपस्थिति के द्वारा ही उन्होंने सीमान्त घटनाओं के खतरे कम कर दिये हैं और जहाँ कभी लड़ाइयाँ हो गयी हैं, वहाँ उन्होंने घटनास्थल पर लड़ाई

के लिए जिम्मेदार पक्ष का पता लगा लिया है। अशान्त सीमाओं पर यदि तटस्थ पट्टी बनाने के लिए उनकी संख्या काफी होती, तो और भी अच्छा होता। निरस्त्रीकरण की योजनाओं में ऐसे पर्यवेक्षक दलों का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा और किन्हीं-किन्हीं स्थितियों में खतरा रहने पर भी उन्हें शस्त्रहीन ही होना चाहिए। निश्चय ही वे जिस देश में रखे गये हैं, उस देश की सहमति से ही काम करते हैं और उनका रूप पुलिस संगठन जैसा नहीं होता।

मिस्री सरकार की सहमति से मिस्र में भेजा गया राष्ट्रसंघीय सैनिक दल, विश्व के भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को लेकर बननेवाली राष्ट्र-संघीय सेना और विशुद्ध पुलिस दल के बीच की चीज है। निरस्त्र विश्व में राष्ट्रसंघीय सेना की कोई आवश्यकता न होगी और पारमाणविक अस्त्रों से सुसज्ज या पारमाणविक अस्त्रों के निर्माण में समर्थ संसार में ऐसी सेना बेकार अथवा खतरनाक होगी। एक से अधिक देशों में प्रशिक्षा प्राप्त और अनेक देशों के लोगों को लेकर बनायी गयी राष्ट्रसंघीय पुलिस-शक्ति को एक लाभ यह होगा कि उसका उपयोग दमन के लिए न होगा।

ऐसे अनेक तरुण हैं, जो अपना अवकाश या अन्तर्राष्ट्रीय शिविरों में अपना समय दूसरे देशों के स्त्री-पुरुषों के साथ स्वेच्छया उपयोगी कार्य करने में, सीधा-सादा जीवन बिताने में और बातचीत तथा हँसी-मजाक करने में बिताते हैं। उनमें से कुछ युवक पैसा बचाकर सबसे कम खर्च के रास्ते से यात्रा करते हैं, कुछ को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सहायता मिल जाती है और कुछ लोग स्वयं कमाई करते हैं। जनता के ऐसे संगठन हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के लिए यात्री को एक या दो दिनों के लिए ठहरने की सुविधा दे देते हैं। इस प्रकार की योजनाओं की जानकारी होने पर और भी लोग ऐसा करेंगे।

तरुण पुरुषों और स्त्रियों को अपने जीवन के कुछ सर्वोत्तम वर्ष सैनिक प्रशिक्षा में लगाने के लिए प्रोत्साहित या बाध्य करने के बजाय यदि विवेक-

शील सरकार तरुणों को बड़े पैमाने पर अपनी इच्छा से अन्तर्राष्ट्रीय सेवा करने का अवसर दे, तो उस पर हमारी वर्तमान सैनिक तैयारियों के खर्च से कहीं कम व्यय होगा और अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा तथा मेल-मिलाप की दृष्टि से जो लाभ होगा, उसकी तो बेशुमार कीमत होगी। हमारे देश में बाढ़ या राष्ट्रीय संकट के समय व्यावहारिक सहानुभूति के लिए बहुत कम प्रचार करना पड़ता है, फिर भी हजारों लोग न केवल आर्थिक सहायता देते हैं, अपितु स्वयं सेवा-कार्य भी करते हैं।

यदि जनता में प्रचार करने के हमारे संगठनों का अच्छी समझदारी के साथ राष्ट्रीय विपत्ति और आवश्यकता आने पर ठीक से उपयोग हो सकता है, तो हम चाहें तो हमें वे संगठन दूसरे देशों की आवश्यकता से भी अवगत करा सकते हैं और बता सकते हैं कि हम उन देशों के लोगों की किस रूप में सहायता कर सकते हैं। यह काम किया जा सकता है और किया गया है। इसकी आवश्यकता समझनेवाले यदि चाहें और इसके लिए जनमत तैयार करें, तो केवल युद्धगत व्यय के विकल्प के रूप में यह कार्य किया जा सकता है।

राष्ट्रीय या विश्व-विचार में कोई बड़ा परिवर्तन करने के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई है यह पराजयवादी धारणा कि हम ऐसा कुछ भी नहीं कर सकते, जो कोई बड़ा अन्तर ला दे। इम्पीरियल कॉलेज ऑफ साइंस के रेक्टर ने कुछ दिन पहले कहा था कि "आग में लकड़ी का लट्ठा कोई भी व्यक्ति फेंक सकता है, किन्तु न्यैष्टिक अग्नि में यूरेनियम का एक डण्डा खपाने के लिए वैज्ञानिकों, रसायनशास्त्रियों और इंजीनियरों की एक लम्बी शृङ्खला की जरूरत होगी।" ऐसी शृङ्खला बन गयी है, क्योंकि कुछ लोग समझते थे कि ऐसा किया जा सकता है और किया जाना चाहिए, और वे दूसरों को राजी करने में सफल हो गये।

दिमागी बीमारी की चिकित्सा और अपराधियों के साथ व्यवहार के

सम्बन्ध में हमारा तरीका तब बदला, जब कुछ लोगों ने अनुभव किया कि ऐसा किया जाना चाहिए और उन्होंने यह सम्भावना प्रदर्शित की। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचार बदलते हैं। इसराइलियों और अरबों के बीच जो सीमा-संघर्ष पिछले कुछ वर्षों से बराबर चिन्ताजनक रूप में चल रहा है, एक समय वैसा ही संघर्ष इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड की सीमा पर बहुत मामूली बात थी। कुछ वर्ष पहले यदि कोई भी प्रतिनिधिमण्डल रूस जाता था, तो उसे यदि कम्युनिस्ट नहीं, तो कम्युनिस्टों से सहानुभूति रखनेवाला जरूर समझा जाता था। अब रायल सोसाइटी वैज्ञानिकों का प्रतिनिधि-मण्डल रूस भेजती है और किसीको आश्चर्य नहीं होता। अब पुराने युग की तरह फाँसी की तख्तियाँ हमारे चौराहों की शोभा नहीं बढ़ातीं। स्त्रियों को डॉक्टरी और इंजीनियरी की ट्रेनिंग दी जाती है। एक समय ऐसा था, जब लड़कियों को शिक्षा देना भी उपयुक्त नहीं समझा जाता था।

यह सब सरकार के सजग नियोजन से नहीं संभव हुआ, हालाँकि राष्ट्र-नायक दूरदर्शी हो, तो ऐसा नियोजन हो सकता था। यह सब उत्साही और लोकहित की चिन्ता करनेवाले स्त्री-पुरुषों द्वारा जनमत-परिवर्तन किये जाने से सम्भव हुआ। वैसा ही परिवर्तन इस समय भी किया जा सकता है। युद्ध में भाग न लेना ही काफी नहीं है, (हालाँकि अन्तर्चेतना का आदेश होने पर ऐसा करना आवश्यक है।) उससे भी अधिक जरूरी यह है कि युद्ध के प्रति घृणा की भावना तैयार की जाय। इसके साथ ही हमें औरों के प्रति सहानुभूति होनी चाहिए और व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय जोखिम उठाकर भी उनका कम-से-कम उतना कल्याण करना चाहिए, जितना हमने प्रसन्नतापूर्वक युद्धकाल में किया था।

अन्ततः युद्धरहित संसार बनाने के लिए योजना बनाना सरकारी स्तर पर उतना ही आवश्यक होगा, जितनी आवश्यक अतीत में युद्ध की योजना थी। शिक्षा, परिवहन, जन-स्वास्थ्य जैसे जनकार्य राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय

स्तर पर सोचने होंगे। सहयोग की योजना के लिए आज इतनी नजीरें हैं कि यदि शान्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से योजना बनाने की इच्छा हो, तो उसके लिए तरीका ढूँढ़ने की जरूरत न पड़ेगी। इसके लिए जिस संकल्प की आवश्यकता है, वह हम साधारण लोगों का संकल्प है, जिसे हम ऐसे शक्तिशाली ढंग से व्यक्त करें कि हमारे शासक चाहते हुए भी उसकी उपेक्षा न कर सकें।

●●●

पन्द्रहवाँ अध्याय

मैंने अब तक राजनीतिक वास्तविकताओं पर विचार करने का प्रयत्न किया है। मैं अनुभव करती हूँ कि यह संसार शान्तिपूर्ण सहयोग और अन्य प्रकार के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्व्यवहार के लिए भी यदि युद्ध को साधन के रूप में अपनाना नहीं छोड़ता, तो इसका विनाश निश्चित है। बढ़ती हुई आबादी को अन्यत्र खपाने तथा पिछड़े लोगों के जीवन-स्तर को दूसरे देशों के निवासियों के जीवन-स्तर के बराबर किये जाने से रोकने के लिए यदि छद्म कानूनी साधन के रूप में युद्ध का सहारा लिया गया, तो विश्व के विनाश का और भी बड़ा खतरा है।

क्रमशः तथा सहमतिपूर्ण निरस्त्रीकरण का प्रयास, साथ में शक्ति-प्रधान राजनीति जारी रखने से, सफल नहीं हुआ। मैं समझती हूँ कि शायद सोचा भी यही गया रहा होगा कि यह प्रयास सफल न होगा।

हमारे सामने जो समस्या है, वह यह कि पुराने झगड़ों और नयी परिस्थितियों का समाधान करने के लिए नये रास्तों की पूरी कोशिश से खोज की जाय। इन नये प्रकार के कामों के लिए नये ढंग से विचार की जरूरत होगी।

लोग आमतौर पर नये तरीकों की बात सोचना नहीं चाहते। फिर भी परिवर्तन होता रहता है। मेरे इतने समय के जीवन में ही नहीं, बल्कि पिछले कुछ वर्षों के भीतर अनेक परिवर्तन हुए हैं। इनमें से कुछ परिवर्तन वैज्ञानिक प्रगति के कारण हुए हैं। दूसरे परिवर्तन उन स्त्रियों और पुरुषों की प्रेरणा से हुए हैं, जिन्होंने समाज के भीतर से परिवर्तन का सूत्रपात किया, उन पथ-दर्शकों के कारण हुए हैं, जिन्होंने वह जनमत तैयार किया, जो सरकार की नीतियाँ बदलता है। कुछ दूसरे परिवर्तन ऐसे जनमत के फल-

स्वरूप हुए, जो बिना किसी पथ-प्रदर्शन के बना, क्योंकि ऐसे जनमत के लिए समय आ चुका था।

संसार में अनेक लोग हैं, जो युद्ध-उन्मूलन का कोई ऐसा रास्ता निकालने की आकांक्षा रखते हैं, जिसमें दूसरे रूपों में बुराई का सहारा न लेना पड़े या लिप्सा, स्वार्थ, धोखाधड़ी अथवा अधर्म के सामने न झुकना पड़े। इन बुराइयों का अहिंसात्मक ढंग से प्रतिरोध करने के लिए उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता, इसलिए वे ऐसे संसार का चित्र नहीं देखते, जिसमें अहिंसा ने हिंसा का अन्त कर दिया हो। हिंसाहीन संसार के निर्माण में वे जो सन्देह प्रकट करते हैं, वे उचित जरूर होते हैं, फिर भी ऐसा न होने का विकल्प विनाश ही होगा।

इस स्थिति में जरूरत इस बात की है कि सभी उचित सम्भाव्य साधनों से (उचित से मेरा मतलब नैतिक दृष्टि से ठोस से है) व्यक्तियों में ऐसी शक्ति पैदा की जाय कि वे समाज की किसी भी प्रकार की बुराई का अहिंसात्मक ढंग से प्रतिरोध करें। इस सम्बन्ध में सबसे पहले इस बात का ध्यान रखना होगा कि एक ओर जहाँ कुछ लोग यह प्रतिरोध स्वाभाविक रूप से कर सकेंगे, वहीं अधिकांश के लिए आत्मानुशासन की ही नहीं, बल्कि ऐसी प्रशिक्षा की भी आवश्यकता होगी, जो युद्ध के लिए जरूरी प्रशिक्षा से किसी कदर कम कठिन नहीं है। महात्मा गांधी की महत्ता इसी बात में नहीं है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध को उन्होंने स्वयं अपने व्यवहार में उतारा, बल्कि इस बात में है कि उन्होंने बिल्कुल साधारण स्त्रियों और पुरुषों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित किया, भले ही वे लोग कभी-कभी विफल भी हुए और कभी-कभी अहिंसा के पथ पर अडिग नहीं रह सके।

अनुभव करने की दूसरी चीज यह है कि प्रतिरोध के फल से अधिक महत्त्व प्रतिरोध का है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से बुराई पर निश्चित रूप से अल्पकालिक विजय पा जाना हिंसात्मक प्रतिरोध से विजय पाने से अधिक

निश्चित नहीं है, फिर भी बुराई का प्रतिरोध किया जाना चाहिए, विजय चाहे मिले चाहे न मिले।

तीसरी चीज ध्यान में रखने की यह है कि समाज के गलत आचरण के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध करना अलोकतांत्रिक नहीं है। लोकतन्त्र का मतलब होता है विचार-विमर्श के द्वारा शासन, न कि बहुमत के बल पर शासन। अनेक तानाशाह सरकारों को जनता के बहुमत का समर्थन प्राप्त है, किन्तु यदि वे अल्पमत विरोधपक्ष के अधिकार का अन्त या दमन कर दें, तो बुरी बन जाती हैं। लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था हड़ताल करने का अधिकार स्वीकार करती है। इस अधिकार का यद्यपि दुरुपयोग हो सकता है, तथापि इसका बहुत ठीक ढंग से उपयोग भी किया जा सकता है। मान-लीजिये कि एक लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित, किन्तु प्रतिक्रियावादी सरकार प्रतिदिन १२ घंटे काम करने और फीस लेनेवाले स्कूलों के बच्चों को छोड़कर दस वर्ष से अधिक अवस्था के सभी बच्चों को उद्योग में काम करने का आदेश जारी कर दे, तब क्या होगा ? तब जनता विक्षुब्ध हो जायगी और व्यापक रूप से सविनय अवज्ञा की जायगी। लोग अनुभव करेंगे कि नया कानून इतना अन्यायपूर्ण है कि अगले चुनाव तक इसे जारी रखने देना बर्दाश्त के बाहर हो जायगा। इसी प्रकार एक राष्ट्र या समाज द्वारा दूसरे राष्ट्र या समाज के विरुद्ध युद्ध की घोषणा या उस पर हिंसात्मक आक्रमण यदि लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित सरकार के ही आदेश पर हो, तो भी आक्रान्त लोगों द्वारा उसका न केवल अहिंसात्मक प्रतिरोध होगा; बल्कि जिन लोगों को आक्रमण करने का आदेश दिया जायगा, वे भी सविनय अवज्ञा करेंगे, क्योंकि ऐसे आदेश के कारण नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से विक्षोभ होना स्वाभाविक है।

हमें अधिक साफ तौर से नागरिकता के कर्तव्यों को जानना होगा और यह समझना होगा कि किसी भी प्रकार की सरकार साधनमात्र है, स्वामी नहीं।

अहिंसात्मक प्रतिरोध का तरीका एक ही होगा, जो पूर्ण निरस्त्रीकरण से मेल खानेवाला हो। इसीलिए ऐसे समाज द्वारा भी अहिंसात्मक प्रतिरोध पर विचार किया जाना चाहिए, जो संसार से युद्ध का उन्मूलन करना चाहता है और साथ ही न्याय को भी कायम रखना चाहता है।

अन्य तरीकों की ही तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध की कला का भी सैद्धान्तिक या ऐतिहासिक अध्ययनमात्र पर्याप्त नहीं है। ये अध्ययन मूल्यवान् इसलिए हैं कि इनसे पृष्ठभूमि की जानकारी होती है। अहिंसा के अध्ययन का समुचित तरीका अहिंसा को व्यवहार में उतारना और उसका स्वयं प्रयोग करना है।

बहुत से ईसाई, जो शान्तिवादी नहीं हैं, ऐसा कहते हैं कि घृणारहित होकर लड़ना और संहार करना सम्भव है, इसलिए ईसा की शिक्षा 'अपने शत्रु को प्यार करो' का युद्धकाल में भी पालन किया जा सकता है। मैं इस पर विश्वास नहीं कर पाती। इसमें शक नहीं कि कुछ ईसाई ऐसा विश्वास करते हैं। जब आप शत्रु पर हिंसात्मक आक्रमण या शत्रु का प्रतिरोध कर रहे हों, उस समय शत्रु के प्रति आपमें चाहे प्रेम की अनुभूति हो या न हो, लेकिन अहिंसा में तो यह प्रेम अनिवार्य है। बुराई करनेवाले के हितार्थ भी बुराई का उतना ही अहिंसात्मक, किन्तु पूर्ण प्रतिरोध किया जाना चाहिए, जितना बुराई करनेवाले की कार्रवाई को रोकने के लिए। जो लोग बुराई करते हैं या दूसरों को क्षति पहुँचाते हैं, वे अपना ही बुरा कर रहे हैं और उन्हें बुराई से बचाने की जरूरत है। वे ऐसे स्त्री-पुरुष हैं, जिनमें अच्छा काम करने की सामर्थ्य है। अहिंसा का तरीका उन्हें असत्कर्म से सत्कर्म की ओर ले जाना चाहता है। "बलप्रयोग से किसीको अधीनस्थ किया जा सकता है, लेकिन प्रेम किसीको भी अपना बना लेता है।"

विवेकपूर्ण दण्ड-व्यवस्था का भी यही उद्देश्य होता है। एलिजाबेथ फ्राई और जान होवार्ड के समय से ही हम उत्तरोत्तर यह बात अधिक

समझते आ रहे हैं कि अपराधी को केवल दण्डित करने या अपराध से विरत रखने में ही नहीं, बल्कि उसे बदल देने में, दण्ड-व्यवस्था की सफलता उन लोगों पर निर्भर है, जो इस व्यवस्था के कार्यान्वय और निर्धारण के लिए काम करते हैं। ये लोग ऐसे होने चाहिए कि जिन स्त्रियों और पुरुषों के बीच इन्हें काम करना है, उन स्त्रियों और पुरुषों में अपनी आस्था रखें। ये लोग ऐसे होने चाहिए, जो स्त्रियों और पुरुषों को समाज के लिए उपयुक्त बनाना चाहते हों, क्योंकि उन स्त्रियों और पुरुषों में उनकी आस्था है।

अनुपयुक्त तथा अपराधी आदमी के प्रति गहरा प्रेम या दिलचस्पी कोई असाधारण व्यक्ति ही रख सकता है। इसलिए यह काम उन लोगों से शुरू होना चाहिए, जिन्हें हम साधारण लोग स्वभावतः प्रेम करते हैं। जब हम यह काम शुरू करते हैं, तब हम अनुभव करने लगते हैं कि अहिंसात्मक जीवन और बुराई के अहिंसात्मक प्रतिरोध के व्यावहारिक रूप हमारे दैनिक अनुभव के अंग हैं। हमने जब भी ऐसे 'नम्र उत्तर' दिये कि कोप हवा हो गया, हमने अहिंसा की कला को व्यवहार में उतारा। यह सामान्य अनुभव की बात है कि ताली एक हाथ से नहीं बजती। जब क्रोधी स्वभाव के दो व्यक्ति साथ रहते हैं और एक-दूसरे के प्रति प्रेम रखते हुए भी आत्म-नियन्त्रण का प्रयास नहीं करते, तो उनके आसपास रहनेवालों का भी जीवन नारकीय बन जाता है। लेकिन यदि उन दो व्यक्तियों में से एक भी व्यक्ति चाहकर भी कड़ा उत्तर नहीं देता, तो दूसरे व्यक्ति का क्रोध शान्त हो जाता है और तब वह शायद क्षमा-याचना भी कर ले सकता है।

नम्र उत्तर प्रेम के साथ दिया जाना चाहिए, किसी भीरुता के वशीभूत होकर नहीं; क्योंकि यह जान-बूझकर उत्तेजित करने के लिए भी होता है। गलती करनेवाले के प्रति सच्चे प्रेम की इसी अवस्था में प्रधानता होनी चाहिए। भीरुता या 'शान्त जीवन के लिए कुछ भी' के रवैये से धृष्ट या

धमकानेवाली प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। शान्तिपूर्ण अवमान (तौहीन) आघात से कहीं अधिक भयानक हो सकता है। अवमान का अहिंसा में कोई स्थान नहीं है। ईसामसीह ने अपने कथन में इसे स्पष्ट कर दिया है : "तुमने सुना होगा कि पुराने लोगों ने कहा था 'तू किसीका प्राण न लेगा : और जो कोई भी किसीके प्राण लेगा, उसे कयामत में जवाब देना पड़ेगा' लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि जो भी कहेगा कि 'तू मूर्ख' (है), वह नरक की आग में जलेगा।" अवमान की भावना से हम अपने पर उतना ही आघात करते हैं, जितना दूसरों पर।

यदि हमारे किसी प्रियजन का क्रोधी स्वभाव है, तो हम उत्तेजना पैदा करनेवाली स्थिति को बचाने की कोशिश करते हैं। यदि वह व्यक्ति जल्दी ही आवेश में आ जानेवाला होता है, तो हम उसके लिए यह स्थिति आने से नहीं रोक सकते। स्वयं ऐसे लोगों के हित और अपने हित के लिए भी नम्रतापूर्ण उत्तर में उस समय और उसके बाद भी एक शान्त, किन्तु कड़ी फटकार देनी पड़ेगी। अक्सर अपने परिवार, अपने पड़ोसियों और अपने साथियों के साथ शान्तिपूर्ण सहयोग करने की हमारी सामर्थ्य हमारी इस जानकारी पर निर्भर करती है कि विशेष प्रकार की बहस में घसीटे जाने या व्यर्थ की उत्तेजना पैदा करनेवाले प्रश्नों में कोई पक्ष लेने से नम्रतापूर्वक कैसे इनकार किया जा सकता है। हम उस समय ऐसा विशेष रूप से कर सकते हैं, जब हम जानते हों कि उन लोगों में ऐसे उग्र पूर्वाग्रह हैं, जिनसे हम सहमत नहीं हैं, लेकिन जिन्हें तर्क से दूर किये जा सकने की सम्भावना भी नहीं है या विवाद ऐसे तथ्य के विषय में है, जिसे सरलता-पूर्वक प्रयोग के द्वारा या सन्दर्भ-ग्रन्थ देखकर जाना जा सकता है।

ये सभी दैनिक जीवन के छोटे-छोटे परिवर्तन हैं, किन्तु मानव के रूप में सुखपूर्वक साथ रहने की दृष्टि से उनका महत्त्व है और वे राष्ट्र के रूप में सुखपूर्वक साथ रहने के संकेत हैं। मुझे ऐसा लगता है कि प्रतिरोध की बात—यहाँ तक कि अहिंसात्मक प्रतिरोध की भी बात—सोचने से पहले हमें

सर्वप्रथम अहंकार, स्वार्थ, तू-तू-मैं-मैं और कटुता से रहित होकर एक-दूसरे से धोखा, लूट या हत्या का सन्देह किये बिना साथ रहना और साथ काम करना सीखना चाहिए। स्वयं अपनी कमजोरियों को समझकर हमें कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों को बर्दाश्त और क्षमा करना होगा। इस बात की कोई जरूरत नहीं कि हम एक-दूसरे के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए अवसर पाने की ताक लगाये रहें!

हमें यह भी समझना होगा कि कुछ दृष्टिकोणों के अनुसार कतिपय राष्ट्र ऐतिहासिक वयःसन्धि काल की अवस्था से गुजर रहे हैं, और उनके प्रति विशेष रूप से सहनशील होने की आवश्यकता है। हम बच्चों के बीच रहते हैं, तब हम यह आशा नहीं करते कि वे बच्चे हमारे साथ बड़ों की भाँति व्यवहार करें। हममें अक्ल है, तो हम यह भी जिद नहीं करते कि सारी बुद्धि और ज्ञान हमारे ही पास है और हम कभी कोई गलती नहीं करते। हमारे अहिंसात्मक प्रतिरोध का पहला और जरूरी रूप यह होना चाहिए कि हम दूसरों से कुछ सीख न मिलने की भ्रान्ति को त्यागें और यह सोचना बन्द करें कि सहयोग तब तक असम्भव है, जब तक हम दूसरों के कथनानुसार नहीं, बल्कि दूसरे लोग हमारे कथनानुसार न चलें।

व्यक्ति और राष्ट्र के रूप में वस्तुतः हम ऐसे लोगों से सहयोग करते हैं, जिनकी राजनीति, धर्म और आदतें हमारी राजनीति, धर्म और आदतों से बिल्कुल भिन्न हैं। यही नहीं, हम उन लोगों से भी सहयोग करते हैं, जिनके मूल्य हमारे मूल्यों से भिन्न हैं। बगदाद-गुट में मुसलमान और ईसाई एक साथ हैं। अमेरिका और यूगोस्लाविया पूँजीवादी और कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था माननेवाले देश होने के बावजूद मित्र हैं। स्पेन में अब भी 'फलांज' सरकार है, फिर भी १९५९ में वैज्ञानिक सम्मेलन में शामिल होने के लिए रूसी वैज्ञानिक मेड्रिड आये। मैं वहाँ उनसे मिली थी और दोनों देशों के अधिकारियों की अनुमति से उन्होंने सम्मेलन समाप्त होने के बाद दक्षिण स्पेन में भ्रमण भी किया था। यह बिल्कुल सीधा-सादा तथ्य है,

क्योंकि वैज्ञानिक जानकारी के परस्पर आदान-प्रदान से हरएक का लाभ होता है। यही हाल सभी अबाध सहयोगियों का है।

जिस प्रकार व्यक्तिगत स्तर पर हम दूसरों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करते हैं, उसी प्रकार एक-दूसरे को राष्ट्रीय स्तर पर समझने का भी प्रयत्न करना चाहिए। समय-पालन, स्वच्छता, नम्रता, कार्य-पद्धति, धार्मिक कृत्य या पुलिस अदालतों के प्रति हमारी आदत और रवैया दूसरों से भिन्न है, इस तथ्य से हम दूसरों को न कुढ़ाने और स्वयं न कुढ़ने का गुण सीख सकते हैं। यदि हम दूसरों के मन को किसी प्रकार की चोट पहुँचाये बिना ऐसा कर पायें, तो हम एक-दूसरे को शिक्षित कर सकते हैं। लेकिन इन सबसे अधिक हमें एक साथ हँसना सीखना चाहिए, भले ही हमारे हास-परिहास की प्रवृत्ति भिन्न हो। ऐल्सबरी बोर्स्टल इन्स्टीट्यूशन फार गर्ल्स की भूतपूर्व गवर्नर स्वर्गीय डेम लिलियन बार्कर ने कहा था कि उन्होंने हँसी से अनेक लोगों को अच्छा बना दिया, जो कई घण्टों की शिक्षा से सम्भव नहीं हो सकता था। लोगों के साथ हँसना लोगों पर हँसने से बिल्कुल भिन्न है।

उपर्युक्त कार्यों में कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिसमें आत्मा को कष्ट हो। यह घर का दैनिक ड्रिल है। इसका समुचित पालन यदि आसान नहीं है, तो व्यवहार से वह आसान बन जाता है। जो कहीं अधिक कठिन है, वह है गलत सामाजिक कार्य के लिए पड़नेवाले गुटगत दबाव का प्रतिरोध, और वह भी खासकर उस स्थिति में, जब दबाव डालनेवाले हमारे मित्र हों। हम अपने मित्रों के लिए परेशानी उत्पन्न करनेवाले या उनके विरुद्ध निर्णायक के रूप में नहीं दिखायी पड़ना चाहते, लेकिन बुराई के प्रतिरोध में समाज की बुराई का प्रतिरोध भी शामिल रहना चाहिए, तभी हम अपने विरुद्ध होनेवाली बुराइयों का प्रतिरोध करने की आशा कर सकते हैं। सैनिक तैयारियों और खूँख्वार सैनिक कार्रवाइयों से बिल्कुल अलग दूसरी सामाजिक बुराइयों के प्रतिशोध भी हैं। समाज

में मौन-भ्रष्टाचार या अत्यधिक शराबखोरी और जुआबाजी की बुराइयाँ भी हैं। राष्ट्र के रूप में हमने १६५५ में मद्यपेयों पर ८५ करोड़ ६० लाख पौण्ड और धूम्रपान पर ८८ करोड़ पौण्ड खर्च किया, जो उन सभी खर्चों का तीसगुना है, जो हमने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विभिन्न कार्यों पर किये थे।

नौकरशाही की हृदयहीनता का प्रतिरोध करना सरल नहीं है। फिर भी जैसे-जैसे नियोजन का विस्तार होता है और संसार के सभी लोगों के लिए खाने-पीने की व्यवस्था करने के लिए नियोजन का विस्तार होगा ही—वैसे-वैसे इस मार्ग में आनेवाले या इसे स्वीकार न करनेवाले व्यक्तियों का बलिदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। उन लोगों को कार्यक्षमता की वेदी पर चढ़ा दिया जाता है। इसे रोकने में प्रचार सहायक हो सकता है, लेकिन उसके लिए सचेत करनेवाले लोगों का होना जरूरी है। गुटगत स्वार्थ की भावना एक दूसरी बुराई है, जिस पर नजर रखने की खासकर इसलिए जरूरत है कि यह स्वार्थ समुदायगत आत्म-सम्मान या पारिवारिक दायित्व के छद्मवेश में आ सकता है।

अपने ही समाज में, समाज के अपने ही वर्ग में हम असत्कर्म को, केवल सतत वैयक्तिक सजगता से और अपने अकेलेपन या घातक परिणाम की चिन्ता किये बिना, असत्कर्म के प्रति क्षमा या उपेक्षा न करने तथा असत्कर्म में सहयोग न देने के अटल निश्चय से ही रोक सकते हैं। हम अपने ही देश में नागरिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप से मुक्त नहीं हैं। नागरिक स्वतंत्रता के अधिकार इतने अधिक मूल्यवान् हैं कि राजनीतिक सुविधा के हित के लिए उन्हें गँवाया नहीं जा सकता। इस अधिकार के हनन से कितना बड़ा खतरा हो सकता है, इसे हम उन देशों में देख सकते हैं, जहाँ रंगभेद, धार्मिक उत्पीड़न और बौद्धिक निष्ठा में राज्य का हस्तक्षेप होता है या वफ़ादारी की शपथ अथवा दूसरे तरीकों से विचार-नियंत्रण का जोर है।

जर्मनी के अनेक विवेकशील तथा विचारवादी लोग अब अनुभव करते हैं कि इस शताब्दी के चौथे दशक में हमसे एक ऐसी गलती हुई,

जिसके लिए सारे संसार को भारी कीमत चुकानी पड़ी; हम जर्मनों को वैयक्तिक रूप से हिटलरवाद के उत्थान का विरोध करना चाहिए था, भले ही हमें और हमारे परिवारों को उसके लिए कुछ भी कष्ट क्यों न झेलना पड़ता। यदि स्त्रियाँ और पुरुष व्यक्तिगत रूप से प्रतिरोध यह समझकर नहीं करते कि ऐसा करना राजनीतिक दृष्टि से विफल हो सकता है, तो तानाशाहों और ढोंगबाजों का आगे बढ़ना बहुत आसान हो जाता है। 'स्पीक ट्रुथ टु पावर'* में अमेरिकी क्वेकरों ने टामस गैरेट की कहानी बतायी है। टामस गैरेट डेलवेयर के रहनेवाले क्वेकर थे। गुलामी से छुटकारे के लिए भागने में हब्शियों को योग देने के कारण उन्हें कारावास तथा जुर्माने की सजा दी गयी थी। जुर्माना इतना भारी था कि उसने उन्हें आर्थिक दृष्टि से कंगाल बना दिया। फिर भी उन्होंने अदालत में खड़े होकर कहा :

> "जज, तूने मेरे पास एक डालर भी नहीं रहने दिया, लेकिन मैं तुझसे और इस अदालत में उपस्थित सभी लोगों से कहना चाहता हूँ कि यदि किसीको ऐसे भगोड़े की जानकारी है, जिसे रहने के स्थान और सहायता देनेवाले की दरकार हो, तो उसे टामस गैरेट के पास भेज दिया जाय; टामस गैरेट मित्र की तरह उसकी मदद करेगा।"

यह अवहेलना जरूर थी, लेकिन ऐसी अवहेलना थी, जो इतिहास को बदल देती है।

अभी हमारे ही समय की बात है, जुलाई १९५५ में मैं गोटिंजेन में थी। उसके कुछ ही दिन पहले विश्वविद्यालय के रेक्टर ने एक

---

* यह पुस्तक अमेरिकन फ्रेण्ड्स सर्विस कमिटी, २० एस ट्वेल्थ स्ट्रीट, फिलाडेल्फिया ७ (अमेरिका) ने प्रकाशित की है। फ्रेण्ड्स बुक सेण्टर, यूस्टन रोड, लन्दन, एन० डब्ल्यू० १ (इंग्लैण्ड) से भी इसे प्राप्त किया जा सकता है।

अर्द्धनाजी को स्थानीय शिक्षामंत्री बनाये जाने के विरुद्ध त्यागपत्र दे दिया था। रेक्टर ने ऐसा अनुभव किया कि मुझे अब यही करना चाहिए, क्योंकि विरोध के दूसरे तरीकों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस्तीफा देने के बाद उन्होंने देखा कि उनके साथ काम करनेवाले कर्मचारियों ने ही नहीं, बल्कि विश्व-जनमत की प्रबल शक्ति ने भी उनका ऐसा साथ दिया कि उस मंत्री को ही त्यागपत्र दे देना पड़ा। व्यक्ति के लिए यह आसान नहीं है कि वह इस प्रकार की कार्रवाई कर सके। यह कार्य विदेशी तथा ऊपर से लादी गयी सरकार का अहिंसात्मक विरोध करने से भी शायद अधिक कठिन है। फिर भी इतिहास में ऐसी कई 'हिंसाहीन जीतें' हैं—कुछ जीतें व्यक्तियों को मिली हैं और कुछ व्यक्तियों के समूहों को। फिर भी लोग सैनिक जीतों की अपेक्षा उन जीतों के बारे में बहुत कम जानते हैं।

यदि हम कम उम्र के लोगों को अकेले खड़े होने और आवश्यकता होने पर सरकार तथा असत्कर्म करनेवालों के भी विरुद्ध खड़े होने के योग्य बनाना चाहते हैं, तो अध्ययन-काल में उन्हें बहादुरी, साहस और त्याग की शिक्षा देनी होगी तथा बताना होगा कि भावी इतिहास में इन सब गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। संसार को शान्तिपूर्ण बनाने योग्य शिक्षा के सम्बन्ध में एक कठिनाई यह है कि उस शिक्षा में बहुत नम्रता है। मेरे खयाल से नैतिक तथा बौद्धिक प्रयास में नम्रता होने से भी अधिक जरूरी यह है कि वह प्रयास इतनी ऊँचाई तक राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करे कि असत्कर्म तथा अन्याय का दृढ़ता से, तेजी से और रचनात्मक तथा अहिंसात्मक तरीकों से विरोध करे। इस तरह का प्रयास उन सभी प्रयासों से बड़ा होगा, जो हमें अब तक करने पड़े हैं। यह ऐसा प्रयास होगा, जिसमें धर्मगुरु बहुत अच्छी तरह योग दे सकते हैं। बुराई में हाथ बँटाने से विरति तथा प्रेम एवं त्याग से सुधार, ये ईसाई-धर्म के बुनियादी सिद्धान्त हैं।

इसे मैं और साफ ढंग से समझा दूँ। मान लीजिये, हम निरस्त्र हैं और एक राष्ट्र, जिसने निरस्त्रीकरण नहीं किया या गुप्त रूप से शस्त्रीकरण कर लिया है, हम पर हमला कर देता है। क्या हम प्रतिरोध कर सकते हैं? शायद पहला प्रश्न यह किया जा सकता है कि 'क्या हमें प्रतिरोध करना चाहिए?' हम नहीं मानते कि साइप्रस के निवासियों को अपने उस द्वीप में हमारी सरकार का शक्तिपूर्वक प्रतिरोध करने का अधिकार है, हालाँकि हम उस द्वीप पर केवल सामरिक उद्देश्यों के लिए कब्जा किये हुए हैं। क्या हम मानेंगे कि उन्हें अहिंसा या सविनय अवज्ञा अथवा इस प्रकार के अन्य तरीकों से प्रतिरोध करने का अधिकार है? क्या हम मांटगोमरी, अलबामा के ७० हजार हब्शियों के लिए उन बसों का बहिष्कार करने का अधिकार मानेंगे, जिन पर उनकी जाति के लोगों का अपमान किया जाता है? हर सप्ताह उन हब्शियों के युवक ईसाई नेता डॉक्टर मार्टिन लूथर किंग कई घण्टे हब्शियों से प्रार्थना कराते और अहिंसा की शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं: "हम श्वेत लोगों के विरुद्ध नहीं हैं। हम बस कम्पनी का काम नहीं बन्द कराना चाहते। हम तो कम्पनी में केवल न्याय चाहते हैं।" क्या यह सही है?

इसके पहले मैंने इसी अध्याय में विवेकपूर्ण तरीकों से अपराधियों को सुधारने की चर्चा की है। मेरा मतलब ऐसे अपराधी से था, जो हमारे नियंत्रण में है, जो पकड़ा और दण्डित किया जा चुका है। लेकिन अब हम उस स्थिति की बात कर रहे हैं, जब हम किसी दूर के निमंत्रण में होंगे और वह होगा आक्रमणकारी। चूँकि उसने हमारे विरुद्ध शक्ति-प्रयोग किया है, इसलिए वह गलती पर हो जाता है। लेकिन हमने उसे किसी दूसरे प्रकार से पहले दुःखी किया होगा। अतीत में हमने उसका कच्चा माल उचित से कम कीमत पर खरीदा होगा। हमने उस पर कठोरता से शासन किया होगा, उसके साथ अपमानजनक व्यवहार किया होगा और इसकी कटु स्मृति उसके पास छोड़ दी होगी। हो सकता है कि हम ऐसा जीवन-स्तर बनाये

रखना चाहते हों, जो उसके जीवन-स्तर से बहुत ऊँचा हो और इसीलिए वह हम पर हमला करके अपने समान रहने के लिए बाध्य हो रहा हो। हमें भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कहीं हम तो गलती पर नहीं हैं।

अहिंसात्मक प्रतिरोध की पद्धति का यदि प्रयोग किया जाय, तो बुराई के विरुद्ध यह प्रयोग विवेक के साथ किया जाना चाहिए। यह प्रयोग गड़बड़ी के लिए नहीं होना चाहिए तथा इसमें ऐसा विध्यात्मक प्रभाव होना चाहिए कि शत्रु की सद्वृत्ति को जगाये। यदि स्कूल खोलने और शिक्षकों द्वारा पढ़ाई जारी रखने की तरह के अच्छे आदेश जारी किये जायँ, तो विदेशी सरकार द्वारा जारी होने के बावजूद उन आदेशों के विरुद्ध सविनय अवज्ञा नहीं की जा सकती। किन्तु यदि शिक्षकों को गलत विचारों की शिक्षा देने के लिए आदेश दिया जाता है, तो शिक्षकों को तत्काल उसे मानने से इनकार कर देना चाहिए, और उनमें इस बात की सामर्थ्य होनी चाहिए कि वे इस बात को साफ शब्दों में कह सकें। यदि कुछ शिक्षक आक्रमणकारी से सहयोग करें (जैसा कि नाजी हमले के समय नार्वे में हुआ था) और छात्रों को गलत बातों की शिक्षा दें, तो उन्हें ऐसा न करने के लिए राजी करने का पूरा प्रयास होना चाहिए। साथ ही स्वयं बच्चों को भी बुरे विचारों का प्रतिरोध और ऐसी शिक्षा का बहिष्कार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

ऐसे कार्य होने पर निश्चित रूप से दमनात्मक कार्रवाई की जायगी। बुराई का प्रतिरोध करने पर एक बहुत भयानक परिणाम यह होता है कि कारावास, यंत्रणा और मृत्यु तक का उपहार केवल स्वयं को ही नहीं स्वीकार करना पड़ता; इस तरह का उत्पीड़न प्रतिरोध करनेवाले व्यक्ति के परिवार के सदस्यों को भी बर्दाश्त करना होता है। लेकिन जो व्यक्ति बुराई का शान्तिपूर्ण प्रतिरोध करता है, वह इस बात की आशा ही क्यों करे कि उसे किसी सैनिक से कम कष्ट उठाने पड़ेंगे? कोई राष्ट्र जब लड़ाई में उतरता है, तब वह यह समझकर उतरता है कि हम हजारों व्यक्तियों का बलिदान

कर देंगे और भावी युद्ध में तो लाखों परिवारों तक साफ हो सकते हैं। वह दिन अब नहीं रह गये, जब सिपाही सोचता था कि हम अपनी जान जोखिम में डालेंगे, तो कम-से-कम हमारे परिवार के सदस्य तो सुरक्षित रहेंगे।

भविष्य के लिए जरूरी यह है कि परिवार के सभी सदस्य—यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी—यह सीखें कि हम बुराई को किसी भी कीमत पर बर्दाश्त न करेंगे और उसमें हमारा सहयोग न रहेगा। यह किया जा सकता है, इस बात का प्रमाण बहुत पहले से क्वेकरों के इतिहास में देखने को मिलता है। कतिपय क्षेत्रों में ऐसा हुआ कि अपने को सही लगनेवाले तरीके से प्रार्थना करने पर वयस्क क्वेकरों को जेल भेजा जाने लगा। उनके जेल जाने पर उनके बच्चों ने सभा-भवनों में अपनी माताओं और पिताओं की तरह एकत्र होना और प्रार्थना करना जारी रखा।

इसका अर्थ यह भी होगा कि यदि हमारे नहीं, बल्कि किसी दूसरे राष्ट्र पर हमला होगा, तो हम जो सहयोग दे सकते हैं, वह केवल नैतिक सहयोग ही हो सकता है। यह बात आज की स्थिति में विशेष रूप से है। यदि हम अभ्याक्रमण के निरोध के लिए विश्व को नष्ट करना नहीं चाहते, तो हर हालत में यही स्थिति भविष्य में भी रहेगी। लेकिन नैतिक समर्थन में बहुत बड़ी शक्ति होती है और समर्थन देनेवाले राष्ट्र की निष्ठा से इसमें ज्यादा जोर होता है।

यह निर्धारित करना बहुत मुश्किल है कि जिस राष्ट्र को असत्कर्म में सहयोग न देने की शिक्षा मिली है, वह अपने ऊपर हमला होने की स्थिति में आक्रमणकारी के विरुद्ध वस्तुतः क्या कार्रवाइयाँ करेगा। हमें यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ था कि जब हिटलर ने ब्रिटेन पर चढ़ाई की, तो उसने यह घोषणा की थी कि वह ब्रिटेन के सभी शान्ति-संगठनों को, जिनमें सोसाइटी आफ फ्रेण्ड्स भी है, खतम कर देगा। वह तमाम लोगों की हत्या करके भी इस कार्य में सफल नहीं हो सकता था, क्योंकि एक बात बिल्कुल निश्चित है : विचारों का दमन नहीं किया जा

सकता। मैं विश्वास नहीं कर सकती कि मानव इतना अनुकूलित हो जायगा कि सदैव बुराई की विजय बनी रहे।

जो शायद सबसे बड़ा खतरा है, वह यह कि अहिंसात्मक प्रतिरोध की कला व्यवहार में इतनी प्रभावकर लगती है कि उसका नैतिक अन्तर्तत्त्व खो जा सकता है। तब यह कला आज की बहुत-सी तालाबन्दियों और हड़तालों की तरह ऐसे वर्गगत हितों को मनवाने के लिए साधन जैसी ही रह जा सकती है, जो उचित या न्यायपूर्ण नहीं हैं।

मैं नहीं जानती कि सतर्कता रखने के बजाय इसे और भी किसी तरीके से रोका जा सकता है। अल्पवयस्कों को अहिंसात्मक प्रतिरोध की शिक्षा देते समय इस बात को जोर देकर स्पष्ट करने की जरूरत है कि अहिंसात्मक जीवन का उद्देश्य दूसरे लोगों की अच्छी बातों को ग्रहण करना और यह विश्वास करना है कि भले ही सत्कर्म की प्रतिक्रिया कुछ भी न हो और हमें असफलता ही दिखायी पड़े; फिर भी अन्ततः विजय सद्भाव की ही होगी।

> ठीक है, यद्यपि मुझे काल की छाया में चलना पड़ रहा है, फिर भी मुझे किसी बुराई से नहीं डरना है, क्योंकि तू मेरे साथ है।

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

धम्मपदं	२)
गीता-प्रवचन १।) सजिल्द	१॥)
शिक्षण-विचार	२॥)
आत्मज्ञान और विज्ञान	१)
सर्वोदय-विचार स्वराज्य-शास्त्र	१)
ग्रामदान	१)
लोकनीति	१।)
स्त्री-शक्ति	।॥)
भूदान-गंगा (छह खंड)	९)
ज्ञानदेव-चिन्तनिका	१)
शान्ति-सेना	॥)
कार्यकर्ता-पाथेय	॥)
साहित्यिकों से	॥)
साम्य-सूत्र	।=)
भाषा का प्रश्न	।)
सर्वोदय पात्र	।)
जय जगत्	॥)
समग्र ग्राम-सेवा की ओर (तीन खंडों में)	५॥)
शासन-मुक्त समाज की ओर	॥)
बुनियादी शिक्षा-पद्धति	॥)
सम्पत्तिदान-यज्ञ	॥)
व्यवहार-शुद्धि	।=)
गाँव-आन्दोलन क्यों ?	२॥)
गांधी-अर्थ-विचार	१)
स्थायी समाज-व्यवस्था	२॥)
सर्वोदय-दर्शन	३)
दादा की नजर से लोकनीति	॥)
सत्य की खोज	१॥)
माता-पिताओं से	।=)
बालक सीखता कैसे है ?	॥)

बोलती घटनाएँ (चार भाग) प्रत्येक	॥)
नक्षत्रों की छाया में	१॥)
चलो, चलें मँगरौठ	।॥)
भूदान-गंगोत्री	२॥)
सर्वोदय-विचार	।॥)
स्थितप्रज्ञ-लक्षण	।)
ग्रामदान क्यों ?	१।)
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ?	१॥)
यात्रा के पथ पर	॥)
समाजवाद से सर्वोदय की ओर	।=)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	।)
सर्वोदय-संयोजन	१)
वर्ग-संघर्ष	॥=)
शोषण-मुक्ति और नव-समाज	॥=)
एशियाई समाजवाद	१॥)
लोकतान्त्रिक समाजवाद	१॥)
बच्चों की कला और शिक्षा	८)
गांधीजी क्या चाहते थे ?	।॥)
सर्वोदय की सुनो कहानी (पाँच भाग)	१।)
किशोरलालभाई की जीवन-साधना	२)
गुजरात के महाराज	२)
जाजूजी : जीवन और साधना	१।)
अन्तिम झाँकी	१॥)
ग्रामराज्य क्यों ?	।=)
ग्राम-स्वराज्य	॥-)
बाबा विनोबा (छह भाग) प्रत्येक	३० न० पै०
मेरी विदेश-यात्रा	॥=)
एक भेंट (नाटक)	॥=)
बापू के पत्र	१।)

स्थायी शांति की सम्भावना में विश्वास न करना मनुष्य के स्वभावगत ईश्वरीय अंश में अविश्वास करने के बराबर है। जिनके हाथ में संहार के चालक यंत्रों का नियन्त्रण है, इन यन्त्रों के उपयोग को—उसके फलितार्थों को पूरी तरह समझकर—छोड़ दें, तो स्थायी शांति प्राप्त की जा सकती है। दुनिया के बड़े राष्ट्र जब तक अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को नहीं छोड़ते, तब तक स्थायी शांति असम्भव है।

—मो. क. गांधी

सवा रुपया